बुद्ध और उनके अनुचर

लेखक

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

प्रकाशक

छात्रहितकारी पुस्तकमाला,

दारागंज, प्रयाग।

थम संस्करण
। १५००

बुद्धाब्द
२४८०

मूल्य
।।।)



बुद्ध के जन्म-स्थान लुम्बिनी में गड़ा हुआ अशोक-स्तम्भ ।

बुद्ध

ईसा के जन्म से बहुत पहले—(छ सौ तेईस वर्ष पहले) इस समय जहाँ नेपाल राज्य की दक्षिण सीमा है, वहाँ रोहिणी नदी के पश्चिम छोर पर, शाक्यों की कपिलवस्तु नाम की राजधानी थी। वहाँ शुद्धोद्धन शाक्य राज्य करते थे। उन्हें दो रानियाँ थीं, माया और प्रजापति। राजा को ४५ वर्ष की आयु में मायादेवी को गर्भ रहा। प्रसव का समय समीप आया देख, मायादेवी ने अपने मायके कोलियों की राजधानी देवदह, जाना चाहा। राजा ने कपिलवस्तु से देवदह तक की यात्रा का वैसा ही प्रबन्ध किया, जैसा एक रानी की यात्रा के लिए होना चाहिये था। रानी देवदह पहुँचने भी न पायी थी कि रास्ते में, लुम्बिनी बन* में हो शाल-वृक्ष के नीचे सिद्धार्थ का जन्म हुआ। पुत्रोत्पत्ति के बाद मायादेवी अधिक दिन इस लोक में न रही। एक सप्ताह के भीतर-ही-भीतर परलोक-गामिनी हो गयी।

बालक सिद्धार्थ बचपन से ही होनहार था, चिन्ताशील था और था एकान्त-प्रेमी। राजा शुद्धोद्धन अपने पुत्र को इस

* रुम्मन देई नौतनवा स्टेशन (B. N. W. R.) से प्रायः ८ मील पच्छिम है।

चिन्ताशील प्रकृति से डरता था कि न जाने यह उसे किस ओर ले जाय ? उसने मन्त्रियों की सलाह से जितनी जल्दी हो र उतनी जल्दी; उसे ब्याह के बन्धन में बाँधना उचित सम कोलिय कुमारी यशोधरा❀ से उसका ब्याह कर दिया। ओर था एक समृद्ध परिवार का विलासमय जीवन और दू ओर थी सिद्धार्थ की विचार-पूर्ण प्रवृत्ति। विलास-मय जी चिन्ताशील प्रवृत्ति को न बदल सका।

एक दिन सिद्धार्थ अपने रथ में बैठ कर भ्रमण के लिये रहे थे। उन्होंने देखा, रास्ते में एक श्वेतकेश, जीर्णकाय व्य लकड़ी के सहारे अत्यन्त धीरे-धीरे चल रहा है। सिद्धा सारथि से पूछा—

"छन्नक ! इस व्यक्ति को क्या हुआ है ? यह ठीक क नहीं चल रहा है ? इसके केश श्वेत क्यों हैं ? यह काँप र रहा है ?"

"कुमार ! यह व्यक्ति हमेशा ऐसा ही नहीं था। बचपन इसने भी माता का दूध पिया है। जवानी में इसने भी धनुष् टंकोर है; लेकिन अब बुढ़ापे में यह ऐसा हो गया है।"

"छन्नक ! क्या यह बुढ़ापा इसी को प्राप्त हुआ है अथ सब को होता है ?"

"कुमार ! सब को।"

❀ पाली ग्रन्थों में सिद्धार्थ की स्त्री को केवल 'राहुल माता' क गया है। यशोधरा नाम संस्कृत-महायान ग्रन्थों में है।

"छन्नक! तो रथ को वापिस करो। चित्त में यह दुःखद वेदना लेकर मैं उद्यान की सैर न कर सकूँगा।"

इसी प्रकार एक दूसरे अवसर पर एक रोगी तथा एक और अवसर पर एक मृत व्यक्ति के दर्शन ने कुमार के हृदय पर वह छाप लगायी कि वह दिन-रात यही सोचने लगा —

"इस बुढ़ापे से, इस व्याधि से तथा इस मृत्यु से मुक्ति का मार्ग है अथवा नहीं? यदि है, तो कौन सा?"

इसी बीच में उन्हें एक शान्त प्रसन्नमुख संन्यासी के दर्शन हो गये। इसका परिणाम हुआ सिद्धार्थ के मन में एक दृढ़; किन्तु मौन संकल्प। वह उस पर निरन्तर विचार करने लगे।

इस समय गौतम की आयु २८ वर्ष की हो चुकी थी। यशोधरा देवी से उन्हें राहुल नाम का एक पुत्र था। संन्यासी के दर्शन के बाद से गौतम दिन-रात यही सोचते थे कि वह अपने परिवार की ममता और महलों के सुखमय जीवन को छोड़ किस प्रकार जंगल का रास्ता लें। उनके मन में कितना बड़ा संघर्ष हुआ होगा? एक ओर प्रजापति गौतमी का मातृ-वात्सल्य, यशोधरा की पति-भक्ति, राहुल का पुत्र-स्नेह तथा महलों का विलासपूर्ण जीवन और दूसरी ओर थी एक आदर्श की धुँधली झलक! 'श्रेय' ने 'प्रेय' पर विजय पायी। एक रात चुपके से, अपने 'कन्थक' घोड़े पर चढ़, छन्नक सारथि के साथ राजकुमार कपिलवस्तु से बिदा हुए।

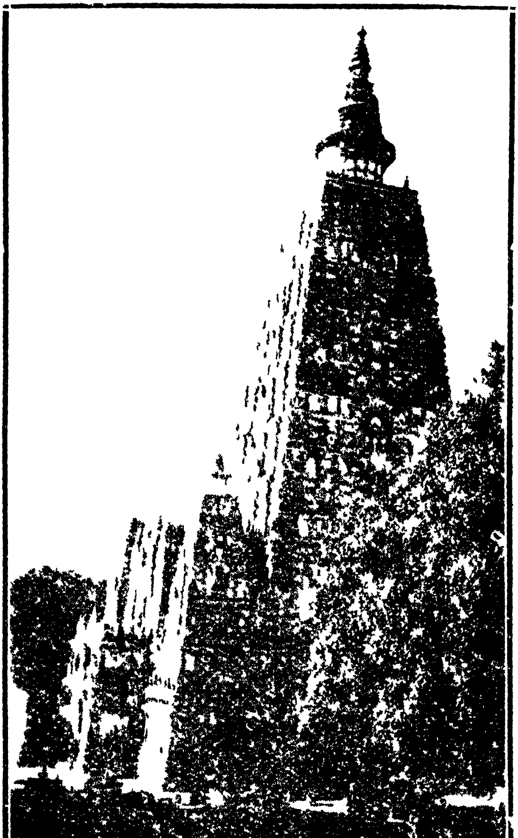
बौद्ध ग्रन्थ इसे सिद्धार्थ गौतम का महाभिनिष्क्रमण कहते हैं।

(२)

शाक्यों के देश से मल्लों के देश में घूमते-घूमते, यह अकिं-चन राजकुमार-विद्यार्थी गङ्गा को पार कर राजगृह पहुँचा। मार्ग में अलार-कालाम सदृश अनेक साधु-महात्मा मिले। किन्तु न तो किसी के कर्मकाण्डी जीवन ने और न किसी के सूखे दर्शन-शास्त्र ने कुमार के हृदय की प्यास बुझायी। राजगृह में बिम्बिसार नरेश ने आग्रह किया—"तुम्हारी यह वन-वन घूमने की अवस्था नहीं। तुम या तो अपने माता-पिता के पास लौट जाओ या मेरे साथ ही राज्य के हिस्सेदार बन कर रहो।"

कुमार को जंगलों के क्षुत्पिपासा-मय जीवन का पर्य्याप्त अनुभव हो चुका था; लेकिन तब भी राजा बिम्बिसार का आग्रह उन्हें अपने प्रण से न डिगा सका। उसका एक ही उत्तर था—"या तो जिस उद्देश की पूर्ति के लिये गृह त्याग किया है, उस उद्देश की पूर्ति होकर रहेगी या उस प्रयत्न में शरीर उत्सर्ग होकर रहेगा।"

राजगृह से चल कर सिद्धार्थ गया के पहाड़ी जंगलों की ओर बढ़े। वहाँ नैरंजरा नदी के किनारे, उरुवेल नामक स्थान पर, छः वर्षों तक तपस्या करते रहे। सत्य और ज्ञान की प्राप्ति के लिये जितने भी मार्ग उस समय ज्ञात थे, कुमार



प्रसिद्ध बुद्ध-गया मन्दिर

(इसी के पश्चिम ओर बोधि-वृक्ष के नीचे सिद्धार्थ बुद्धत्व को प्राप्त हुए।)

ने सब की परीक्षा की। आहार-त्याग से शरीर को कृशता की अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया और इस क्रम को तब तक जारी रखा, जब तक यह निश्चय नहीं हो गया कि, इन्द्रियों को सुखा देने मात्र से मन का शमन नहीं हो सकता। उनका निश्चय था—"चाहे मेरा चमड़ा, नसें, हड्डियाँ ही क्यों न बाकी रह जायँ, चाहे शरीर, मांस, रक्त क्यों न सूख जायँ; सम्यक सम्बोधि को प्राप्त किये बिना इस आसन को नहीं छोड़ूँगा।"*

आर्यवर अनेक परीक्षाओं के बाद अपने चित्त की बुरी वासनाओं पर विजय प्राप्त कर, मार को सम्पूर्ण रूप से जीत कर वैशाखी पूर्णिमा की पुण्य तिथि को सिद्धार्थ गौतम, उस अमरबोधि-वृक्ष के नीचे, बुद्धत्व को प्राप्त हुए। उस समय उन्होंने कहा —

"इस जन्म-मरण के कारण को खोजता हुआ, मैं अनेक जन्मों तक संसार में दौड़ता रहा। ओहो! बार-बार जन्म लेना (कितना) दुःखकर है। हे गृह (शरीर रूपी घर) कारक! (अब) मैंने तुझे पहचान लिया। (अब) तू फिर घर न बना सकेगा। तेरी सभी कड़ियाँ भग्न हो गयीं। घर का शिखर गिर पड़ा। संस्कार-रहित चित्त से तृष्णा का क्षय हो गया।"†

(३)

यदि गौतम केवल अपने बोध से सन्तुष्ट हो जाने वाले

* राहुल साकृत्यायन-कृत बुद्धचर्य्या।

† धर्म्मपद।

व्यक्ति होते, तो उनके जीवन का आदर्श पूरा हो गया था; लेकिन उन्हें शान्ति कहाँ ? उनका तो हृदय समस्त संसार के कल्याण की कामना से तड़प रहा था। वे सोचने लगे, किसे सर्व प्रथम यह ज्ञानामृत पान कराया जाय ? खयाल आया कि, उन्हीं पाँचों साथियों को, जो बुद्धगया में रहते समय गौतम को पथ-भ्रष्ट हुआ समझ अकेला छोड़ आये थे, उपदेश दिया जाय। बुद्ध उनकी खोज में गया से ऋषिपत्तन, मृगदाव (बनारस) आये। उन पाँचों प्रव्रजितों पर बुद्ध की तेजस्विता का प्रभाव पड़ते देर न लगी। तथागत ने उपदेश दिया—

"भिक्षुओ ! संन्यासी को चाहिये कि, वह इन दो अन्तों का सेवन न करे। कौन से दो अन्त ? एक तो यह जो काम और विषय-वासनाओं का जीवन है, जो अत्यन्त हीन, ग्राम्य, अनार्य और अनर्थकर है; और, दूसरा यह जो शरीर को व्यर्थ ही पीड़ा पहुँचाना; (क्योंकि) यह भी अत्यन्त हीन, ग्राम्य, अनार्य और अनर्थकर है। इन दोनों अन्तों को त्यागकर तथागत ने मध्यमा-प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) का उपदेश दिया है। यह मध्यमा-प्रतिपदा आँख खोलने वाली है, ज्ञान देने वाली है, (रागादि-ऊर्मियों का) शमन करने वाली है। कौनसी है यह मध्यमा-प्रतिपदा ? यही जो (१) ठीक (सम्यक्) विचार, (२) ठीक संकल्प, (३) ठीक वाणी, (४) ठीक कर्म, (५) ठीक आजी-विका, (६) ठीक व्यायाम (उद्योग), (७) ठीक स्मृति (चित्त-



धमेक (=धर्मचक्र)-स्तूप (सारनाथ)
(यहीं भगवान बुद्ध का प्रथम उपदेश हुआ था)

वृत्ति) (८) और ठीक समाधि।"*

इस प्रकार बुद्ध ने अपने उन पाँचों शिष्यों को आर्य-अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दे 'आर्य-जीवन' का अनुयायी बनाया। उस दिन ऋषिपत्तन (मृगदाव) में तथागत† ने अपना वह धर्म-चक्र प्रवर्तित किया, जिसे पहले न किसी श्रमण, न ब्राह्मण, न देवता, न मार, न और किसी ने भी चलाया था।

उन दिनों बनारस में एक बड़ा सेठ रहता था, जिसके लड़के का नाम था यश। पिता ने अपने प्रिय पुत्र के लिये भोग-विलास की सब सामग्री जुटा रखी थी। लेकिन यश उन नवयुवकों में से था, जिन्हें ऊँचे आदर्शों की प्रेरणा विलासमय जीवन में फँसने नहीं देती। विलासी जीवन से उसको सन्तोष न हुआ। ऊब कर तथागत के पास गया और उनका उपदेश सुन कर, उन्हीं के पास भिक्षु (प्रव्रजित) हो गया।

अब दिनों दिन गौतम की ख्याति फैलने लगी। युवक-गण एक-एक कर के उनकी भिक्षु मण्डली में सम्मिलित होने लगे। जब भिक्षुओं की संख्या ६० तक पहुँची, तब तथागत ने उन्हें सम्बोधित किया।

"भिक्षुओ! अब तुम लोग जाओ, घूमो। जनता के हित के लिये, जनता के सुख के लिये, देवों और मनुष्यों के कल्याण के लिये जाओ, घूमो। दो भिक्षु एक तरफ न जाओ। तुम लोग

*धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र बुद्धचर्या।

†बुद्ध अपने लिये 'तथागत' शब्द का व्यवहार करते थे।

उस धर्म्म का उपदेश करो, जो आदि में कल्याणकारी है, मध्य में कल्याणकारी है और अन्त में भी कल्याणकारी है !······ और हे भिक्षुओ ! मैं स्वयं भी जहाँ उरुवेल है, वहाँ धर्मोपदेश देने जाता हूँ।*

(४)

उरुवेल राजगृह, कपिलवस्तु, वैशाली, जेतवन, कौशाम्बी आदि स्थानों में (वर्षा वास के तीन महीनों को छोड़) भगवान् बुद्ध नित्य ही किसी न किसी जगह की चारिका (=यात्रा) करते थे। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण जिस प्रकार केवल लोक-हित में व्यतीत होता था उसका दूसरा उदाहरण नहीं।

एक बार भगवान् विचरते-विचरते केसपुत्तिय नामक ब्राह्मणों के ग्राम में जा पहुँचे वहाँ कालामा गोत्र के लोगों ने पूछा—"भन्ते ! हमारे ग्राम में कुछ श्रमण-ब्राह्मण आते हैं, वे अपने मतों का समर्थन करते हैं और दूसरों के मतों का खण्डन। फिर दूसरे आते हैं, वे अपने सिद्धान्तों का समर्थन करते हैं। और दूसरों के सिद्धान्तों का खण्डन। भन्ते, हम कैसे जानें कि किनका कथन सत्य है और किनका असत्य ? कैसे जानें कि कौन सही और कौन गलत है ?"

भगवान् ने कहा— "कालामा ! सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक है। किसी बात में केवल इसलिये विश्वास मत करो कि बहुत से लोग उसे मानते हैं। इसलिये विश्वास मत करो कि

*महावग्ग।

वह तुम्हारे आचार्य्यों की कही हुई बात है। इसलिये विश्वास मत करो कि, वह तुम्हारे धर्मग्रन्थों में लिखी हुई है। बल्कि प्रत्येक बात को अपने व्यक्तिगत अनुभव की कसौटी पर जाँचो। यदि तुम्हें वह अपने तथा औरों के लिये हितकर जान पड़े, तो उसे मान लो, न जान पड़े तो मत मानो।"

× × ×

राजा शुद्धोदन के कानों में पुत्र की ख्याति पहुँची। वे अपने पुत्र को देखने के लिये उत्कण्ठित हो गये। बड़ी कठिनाई से वे अपने पुत्र को अपने राज्य में बुलाने में सफल हुए। बुद्ध कपिलवस्तु आये। वहाँ अपने नियम के अनुसार नगर से बाहर ठहरे और भिक्षा के समय, अन्य भिक्षुओं को साथ ले भिक्षा माँगने निकले। राजा को पता लगा तो वे घबराये हुए आये और बोले—

"क्या मुझ में, आपको और आपके भिक्षुओं को भोजन कराने का सामर्थ्य नहीं है, जो आप घर घर भिक्षा माँग रहे हैं?"

"राजन! हमारे वंश का यही धर्म है।"

"भन्ते! हमारा वंश क्षत्रिय-वंश है। हमारे वंश में किसी एक ने भी तो आज तक भिक्षा नहीं माँगी।"

"राजन्! तुम्हारा वंश क्षत्रिय-वंश होगा। हमारा वंश तो बुद्धों का वंश है।"

कपिलवस्तु में रहते समय भगवान् ने अपने पुत्र राहुल

तथा अन्य कई जनों को प्रव्रजित किया।*

❀ ❀ ❀ ❀

कृशागौतमी नाम की एक अत्यन्त दरिद्र स्त्री का इकलौता पुत्र मर गया। वह शोक से पगली हो गयी और अपने मृत पुत्र की लाश को इस आशा से गोद में उठाये फिरती थी कि कोई जिला देगा। उसे क्या मालूम कि मरे हुए जिया नहीं करते और यदि जी उठें, तो वह मरे हुए नहीं होते।

किसी ने उसे तथागत के पास भेज दिया। कहा—"जा, वहाँ समुचित औषध मिलेगी।"

आपत्ति की मारी गौतमी रोती, चिल्लाती, सिर धुनती तथागत के पास पहुँची। बोली—

"मेरे पुत्र को जिला दो।"

बुद्ध बोले—"जिस घर में आज तक कोई मरा न हो, उस घर से सिद्धार्थक (पीली सरसों) ले आ।"

गौतमी घर-घर घूमी। सिद्धार्थक देने के लिए सब तैय्यार थे; लेकिन कोई घर ऐसा न था, जहाँ कोई-न-कोई मरा न हो।"

---

* एक बार लाहौर में श्रद्धेय राहुलजी का व्याख्यान हो रहा था। उनका कहना था कि भगवान् बुद्ध क्षात्र धर्म के विरोधी न थे। किसी सज्जन ने पूछा—'तो फिर बुद्ध ने अपने पुत्र राहुल को, जो कि एक क्षत्रिय-कुमार था, संन्यासी क्यों बनाया?' राहुलजी ने उत्तर दिया; 'क्योंकि बुद्ध जन्म से जात पात के ठेके को न मानते थे।'

उसको आँख खुल गयी। पुत्र की लाश छोड़ कर वह तथागत के पास आयी। भगवान् बोले--"देखा गौतमी! यह जो अनित्यता है, यह न केवल एक ग्राम का, न केवल एक निगम का, न केवल एक कुल का धर्म है, यह तो सारे संसार का धर्म है। देवता भी इसके अपवाद नहीं हैं।"

कृशागौतमी ने प्रव्रज्या ग्रहण की।

× × ×

उस समय एक भिक्षु को पेट की बीमारी हो गयी थी। बेचारा अपने पेशाब-पैखाने में पड़ा था। आयुष्मान् आनन्द-सहित भगवान् घूमते-घूमते वहाँ पहुँचे, जहाँ वह भिक्षु पड़ा था। जाकर पूछा--

"भिक्षु, तुझे क्या रोग है?"

"भगवन्, पेट की बीमारी है।"

"भिक्षु, तेरा कोई परिचारक है?"

"नहीं।"

"और भिक्षु क्यों तेरी सेवा नहीं करते?'

"भगवान्, मुझसे किसी भिक्षु का कुछ बन नहीं पड़ता।"

भगवान् ने आयुष्मान् आनन्द को कहा—"जा आनन्द, पानी ला। इस भिक्षु को नहलाऊँगा।"

आनन्द पानी लाये। भगवान् ने पानी डाला। आयुष्मान् आनन्द ने धोया। भगवन् ने सिर से पकड़ा। आयुष्मान् आनन्द

ने पैर से उठा कर चारपाई पर लिटाया। तब भगवान् ने भिक्षुओं को एकत्र कर कहा—

"भिक्षुओ! तुम्हारी माता नहीं, पिता नहीं, जो तुम्हारी सेवा करें। यदि तुम एक दूसरे की सेवा न करोगे, तो कौन करेगा? जो रोगी की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है।"

× × ×

भगवान् राजगृह में विचर रहे थे। कुछ ब्राह्मणों ने उनसे पूछा—

"भन्ते! क्या आपके सब शिष्य आपका अनुकरण करते हैं?"

"कुछ करते हैं कुछ नहीं।"

"यह कैसी बात है कि आपके शिष्य भी आप का अनुकरण नहीं करते?"

भगवान् बोले—"हे ब्राह्मणों! मैं तुम लोगों से ही एक प्रश्न पूछता हूँ। उत्तर दो। क्या कभी लोग तुम लोगों से राजगृह जाने वाला मार्ग पूछते हैं?"

"हाँ पूछते हैं।"

"तो क्या सभी राजगृह जाते हैं?"

"इसमें हमारा क्या दोष है। हमारा काम तो केवल मार्ग बतला देना है।"

"इसी तरह हे ब्राह्मणो! मेरा काम केवल मार्ग बतला देना है। इसमें मेरा क्या दोष है? कुछ लोग मेरा अनुकरण करते हैं, कुछ नहीं करते।"

(५)

उस समय भगवान् राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर विहार कर रहे थे। वैदेही-पुत्र राजा अजातशत्रु का महामात्य वर्षकार (ब्राह्मण) आया, और भगवान् को श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर के बोला।

"भन्ते, वैदेही-पुत्र मगध-नरेश बज्जियों पर आक्रमण करना चाहते हैं। उनकी इच्छा है कि वैशालीवालों का चिह्नमात्र बाकी न रहे। उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है कि "जाओ भगवान् से मेरा प्रणाम कहो और इस सम्बन्ध में उनका जो विचार हो, उसे पूछकर आओ।" "भन्ते, इस सम्बन्ध में आपका क्या विचार है?"

आनन्द खड़े भगवान् को पंखा कर रहे थे। भगवान् ने आनन्द को देखा—

"आनन्द, बज्जियों में कुछ ऐसी बातें हैं कि वे जबतक उनके अनुसार आचरण करते रहेंगे, बज्जियों का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।"

"भन्ते! कौनसी वे बातें हैं?"

"आनन्द, बज्जी लोग नियमपूर्वक अपनी सभा करते हैं, सभा के समय सब ही उपस्थित होते हैं, अपने बनाये हुए नियमों का उल्लंघन नहीं करते, आदरणीय व्यक्तियों का आदर करते हैं, परायी स्त्री को जबर्दस्ती अपनी स्त्री नहीं बनाते, अपने नगर के पूज्य स्थानों का ख्याल रखते हैं, अपने राज्य में आने-

वाले धर्मोपदेशकों का यथोचित सत्कार करते हैं, जिससे भविष्य में भी वे उनके राज्य में आवें। आनन्द, जबतक बज्जियों में ये सात गुण हैं, तबतक बज्जियों का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।"

वर्षकार भगवान् की बात ध्यान से सुन रहा था। भगवान् ने कहा—"ब्राह्मण, वैशाली में विचरते हुए एक बार मैंने बज्जियों को यह सात बातें कही थीं। जबतक बज्जी इनके अनुसार आचरण करते रहेंगे, तबतक बज्जियों का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।"

मगध-महामात्य ने भगवान् को प्रणाम कर कहा—"भन्ते, मैं सन्तुष्ट हो गया। अब आप जाने की आज्ञा दें, मुझे कई आवश्यक कार्य हैं।"

"ब्राह्मण, जैसा तू उचित समझे वैसा कर।"

भगवान् ने आनंद को कहकर सब भिक्षुओं को एकत्र किया और उन्हीं सातों बातों का उपदेश दिया।

(६)

पाटलिग्राम, कोटिग्राम और नादिकाग्राम होते हुए भगवान् जिस समय वैशाली पहुँचे तो बात फैलते फैलते वैशाली की प्रसिद्ध गणिका अम्बपाली के कानों तक जा पहुँची। उसे मालूम हुआ कि भगवान् उसी के आम्रवन में ठहरे हुए हैं।

बुद्ध जैसे महापुरुष के पास जाने की किसे उत्सुकता नहीं होगी ? अम्बपाली की भी इच्छा हुई कि वह भगवान् के दर्शनार्थ

जाय। वह अपने सबसे अच्छे रथ को जुतवा उसपर सवार हो वैशाली से निकली। मार्ग में उसके मन में अनेक विचार उठ रहे थे। कभी वह अपने कमीने पेशे की ओर देखती और कभी शील की मूर्ति भगवान् की ओर। जब आम्र-वन अधिक दूर न रहा, तब अधिक समीप तक रथ पर चढ़कर जाना आर्य-मर्यादा के विरुद्ध जान अम्बपाली रथ से उतर पैदल चल पड़ी। बाग में प्रवेश करते ही उसने देखा कि भगवान् भिक्षुसंघ को उपदेश दे रहे हैं। वह भी एक ओर शान्ति-से बैठ उपदेश सुनने लगी। उपदेश की समाप्ति पर उसने भगवान् से प्रार्थना की—

"भन्ते भिक्षुसंघ-सहित आप कल के लिये मेरा भोजन स्वीकार करें।"

भगवान् ने मौन रह गणिका का निमन्त्रण स्वीकार किया।

× × × ×

"अम्बपाली, आज क्या बात है कि तू रथ से रथ को धक्का देकर चल रही है!",

"आर्यपुत्रो, भगवान् ने कल के लिये मेरा भोजन स्वीकार किया है।"

लिच्छवियों ने दाँतों तले अँगुली दबायी। बोले—"अम्ब-पाली, यह दान हमें देने दे। हम तुझे इसके लिये एक लाख मुद्रा देंगे।"

"आर्यपुत्रो, एक लाख तो क्या, यदि आप बदले में मुझे सारी वैशाली भी दें, तो भी मैं यह निमन्त्रण नहीं दे सकती ।"

लिच्छवी बोले—

"ओह ! हम चूक गये। हम हार गये हमें इस गणिका ने जीत लिया।" वे सब इकट्ठे होकर भगवान् के पास गये और बोले—

"भन्ते, संघ-सहित आप कल के लिये हमारा निमन्त्रण स्वीकार करें।"

"लिच्छवियो, कल के लिये तो मैंने अम्बपाली का निमंत्रण स्वीकार कर लिया।"

अत्यन्त पतित गणिका तक के लिये भगवान् का यह भाव देख लिच्छवी स्तब्ध रह गये और नतमस्तक हो अपने स्थान को लौट आये ।

× × ×

दूसरे दिन भोजन का समय हो जाने पर अम्बपाली ने भगवान् के पास समय की सूचना भेजी। पात्रचीवर ले भिक्षु-संघ-सहित भगवान् अम्बपाली के निवास स्थान पर पहुँचे और बिछे आसनों पर विराजमान हुए। अम्बपाली ने बड़े ही प्रेम और श्रद्धा से, बार-बार पूछ-पूछ कर, भगवान् को अपने हाथ से भोजन कराया। उनके भोजन-पात्र से हाथ खींच लेने पर हाथ धुलवा, वह एक ओर बैठ गयी और बोली—

"भन्ते, मैं बुद्ध-धर्म-संघ की शरण जाती हूँ और इस अपने आम्रवन को बुद्ध और भिक्षु-संघ को प्रदान करती हूँ।"

भगवान् ने मौन रहकर स्वीकार किया।

(७)

वेणुग्राम (वैशाली) में वास करते समय भगवान् ने भिक्षुओं से कहा—

"भिक्षुओ, वर्षा-वास का समय आ गया। तुम वैशाली के आस-पास जहाँ जहाँ सुविधा देखो, वहाँ वहाँ वर्षा-वास करो। मैं इस वर्ष वेणुग्राम में ही वर्षा-वास करूँगा।"

"भन्ते अच्छा।"

उसी वर्षा-वास में भगवान् रोग-ग्रस्त हो गये। आरम्भ में तो रोग मामूली था; लेकिन बढ़ते-बढ़ते वह भयंकर हो गया। मरणान्तक पीड़ा होने लगी। तब भगवान् ने सोचा—"इस रोग को तो मुझे अपने मनोबल से शान्त ही करना चाहिये। भिक्षु-संघ को बिना देखे इस जीवन-प्रदीप को बुझा देना ठीक नहीं।"

भगवान् के मनोबल से उस समय वह रोग शान्त हो गया।

रोग से तो भगवान् मुक्त हो गये; किन्तु शरीर में अभी बल नहीं आया था। विहार के बाहर भगवान् आसन पर बैठे थे। आनन्द ने कहा—

"भन्ते, आपको निरोग देखकर मेरा दिल कुछ हरा हुआ। नहीं तो मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा गया था। धर्म तो क्या, पूरब-पच्छिम भी न सूझता था। किन्तु इतनी आशा थी कि भिक्षु-संघ को बिना कुछ सन्देश दिये भगवान् निर्वाण को प्राप्त नहीं होंगे।"

"आनन्द, अब संघ मुझ से और क्या आशा रखता है? धर्म का जो उपदेश करना था, वह तो मैंने कर दिया। कोई रहस्य की बात छिपाकर नहीं रखी। अब और भिक्षु-संघ मुझ से क्या चाहता है? आनन्द, भिक्षु-संघ के लिये तो वही चिन्तित हो, जिसकी यह धारणा हो कि, भिक्षु-संघ मेरा है, मैं उसका मालिक हूँ। मुझे तो आनन्द, स्वप्न में भी यह ख़याल नहीं होता; तो फिर मैं किसलिये भिक्षु-संघ के लिये चिन्तित होऊँ? आनन्द, अब यह शरीर जीर्ण है। अस्सी वर्ष की उम्र है। पुराने छकड़े की भाँति किसी तरह बाँध-बूँध कर इसे चला रहा हूँ। केवल समाधि-अवस्था में ही पूर्ण सुख से रहता हूँ। आनन्द! दूसरे का आश्रय छोड़ो। आत्मावलम्बी बनो। धर्म तुम्हारा पथ-प्रदर्शक है। उसी का अनुसरण करो।"

(८)

भोगनगर होते हुए भगवान् पावा में, चुन्द सुनार के आम्र-वन में ठहरे। चुन्दने सुना तो वह भगवान् की सेवा में उपस्थित हुआ और बोला—

"भन्ते, भिक्षुसंघ-सहित भगवान् कल के लिए मेरा भोजन स्वीकार करें।"

भगवान् ने मौन रह कर स्वीकार कर लिया। अगले दिन चुन्दने अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थों के साथ सूकर-मद्दव* भी तैयार कराया। उसे क्या मालूम था कि शरीर पुष्टि के लिये बना यह सूकर-मद्दव प्राण-घातक रोग उत्पन्न करेगा। भोजन का समय होने पर उसने समय की सूचना दी और उधर संघ-सहित बुद्ध के लिये आसन बिछवाये। भगवान् आकर आसन पर बैठे। चुन्दने अपने हाथ से संघ-सहित भगवान् को भोजन परोसा। भोजन समाप्त कर, चुन्दको अपना उपदेशामृत पान करा भगवान् अपने स्थान पर लौट आये।

❀ ❀ ❀ ❀

थोड़ी ही देर बाद भगवान् को रक्त स्राव होने लगा। पेट में मर्मान्तक व्यथा होने लगी। भगवान् ने आनन्द से कहा—

"देखो आनन्द, मेरे बाद चुन्द को कोई यह न कहे कि, चुन्द तुम बड़े अभागे हो; तुम्हारे भोजन को खाकर भगवान् ने शरीर छोड़ा। यदि कोई ऐसा कहे, तो आनन्द, तुम कहना—"चुन्द, तुम बड़े सौभाग्यशाली हो। तुमने महान् पुण्यार्जित किया, जो तुम्हारे भोजन को ग्रहण कर तथागत ने

---

*सूकर-मद्दव का अर्थ एक प्रकार की जड़ और सुअर का मांस दोनों लिया जाता है।

निर्वाण लाभ किया। चुन्द तुम्हारा यह भोजन वैसा ही श्रेष्ठ है, जिस तरह सुजाता की खीर थी, जिसे ग्रहण कर भगवान् बुद्धत्व को प्राप्त हुए।"

(९)

"चलो आनन्द, हिरण्यवती नदी के परले किनारे पर, कुशीनगर में जहाँ मल्लों का शालवन है, वहाँ चलें।"

"अच्छा, भन्ते।"

उस व्यथा की अवस्था में भी चार कोस की यात्रा कर भगवान् हिरण्यवती के किनारे मल्लों के शालवन में पहुँचे। उन्होंने कहा—

"आनन्द, शाल के इन दोनों वृक्षों के बीच में मेरे लिये चारपाई बिछा दो। बहुत थक गया हूँ। लेटूँगा।"

"अच्छा भन्ते।"

उत्तर की ओर सिर कर, दाहिनी करवट से उस अन्तिम शय्या पर लेटे हुए भगवान् बोले—"आनन्द, चारों दिशाओं से श्रद्धालु कुलपुत्र तथागत के जन्म-स्थान लुम्बिनी, बुद्धत्व-प्राप्ति के स्थान बुद्ध-गया, धर्म-चक्र प्रवर्तन के स्थान ऋषिपत्तन और महा-परिनिर्वाण के स्थान इस कुशी-नगर के दर्शनार्थ आवेंगे और संसार की क्षणिकता को देख वैराग्य को प्राप्त होंगे।"

× × ×

भन्ते, तथागत के शरीर के प्रति हमें क्या करना होगा?"

"आनन्द, तथागत की मृत देह के लिये तुम्हें कुछ नहीं

करना है। तुम्हारे लिये सत्य की खोज और उसकी प्राप्ति ही कर्तव्य है। ऐसे गृहस्थ हैं, जो तथागत के शरीर के प्रति जो जो उचित होगा, सब करेंगे।

× × ×

आनन्द को विश्वास हो गया कि वह वृक्ष, जिसकी शीतल छाया-तले वह सुख-शान्ति पा रहे थे, अब कुछ ही घंटों में नाम शेष रह जायगा। वह अपने को सम्हाल न सके और विहार के एक कोने में खड़े हो आँसू बहाने लगे। "हाय! अभी मैं निर्मल-चित्त हो अर्हत पद को भी न प्राप्त कर पाया और मेरा पथ-प्रदीप बुझ रहा है।"

भगवान् ने भिक्षुओं से पूछा—"आनन्द कहाँ है?"

"भन्ते, आनन्द उधर खड़े रो रहे हैं।"

"जाओ, कहो कि तथागत बुला रहे हैं।"

आनन्द आये।

"आनन्द, यह शोक किस लिये? क्या मैंने पहले ही यह नहीं कह दिया है कि सभी प्रिय वस्तुओं का नाश होता है; अतएव वियोग अनिवार्य है? आनन्द, क्या यह सम्भव है कि प्रिय जनों का वियोग न हो? यदि नहीं, तो फिर क्यों रोते हो? आनन्द, तुमने इतने दीर्घ समय तक मन, कर्म, बचन से तथागत की सेवा करके अपार पुण्य सञ्चय किया है। अब आनन्द, तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे शीघ्र ही राग-द्वेष और मोहरूपी पाशों से मुक्त हो जाओ।"

(१०)

सुभद्र परिव्राजक को मालूम हुआ कि भगवान् मृत्युशय्या पर पड़े हैं। उसने सोचा, श्रमण गौतम जैसे महापुरुष रोज-रोज पैदा नहीं हुआ करते। मेरी शङ्काओं की निवृत्ति का फिर ऐसा अवसर नहीं आवेगा, निवारण कर लूँ। वह मल्लों के उस एकान्त शालबन में गया। जाकर बोला—

"हे आनन्द, मेरे चित्त में धर्म सम्बन्धी कुछ शंकाएँ हैं। यदि उन्हें इस समय न मिटा सका, तो फिर वे कभी न मिट सकेंगी। कृपया मुझे भगवान् के दर्शन कराइये।"

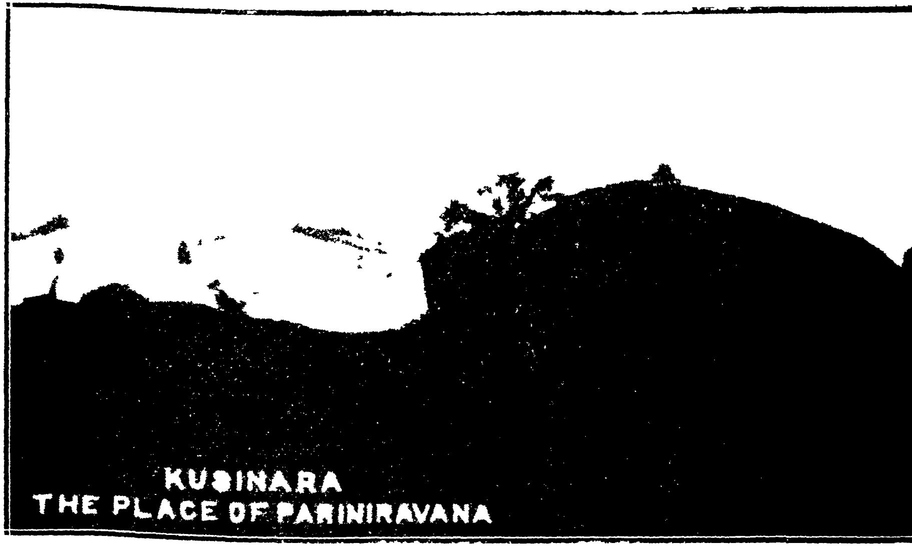
"सुभद्र, यह भगवान् से शंका-समाधान करने का समय नहीं है। भगवान् निर्वाण-शय्या पर हैं। अब उन्हें कष्ट मत दो"

"आनन्द, मुझे भगवान् के दर्शन कर लेने दो।"

"सुभद्र, अब उन्हें कष्ट मत दो।"

४५ वर्षों तक निरन्तर अखिन्न चित्त से जिसने मनुष्यों के लिये अमृत वर्षा की हो, वह अब इस अन्तिम समय में भी अपनी उस सहज करुणा को कैसे भूल सकता है! आनन्द और सुभद्र के इस कथा-संलाप को सुन कर भगवान् ने कहा—

"आनन्द, सुभद्र को मत रोको। आने दो। वह ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से आया है, मुझे तकलीफ देने के लिये नहीं। वह बहुत समझदार है। इस समय मैं जो कुछ उसे कहूँगा, वह तुरन्त समझ लेगा।"



महापरिनिर्वाण-चैत्य (कुसीनगर, ज़िला गोरखपुर)

आयुष्मान् आनन्द ने सुभद्र परिव्राजक से कहा—'आवुस सुभद्र, आओ। भगवान् स्वयं तुम्हें बुला रहे हैं।"

सुभद्र परिव्राजक ने करुणा की उस शान्त मूर्ति को देखा, और देखा उस भव्य जीवन के सन्ध्याकाल को। फिर अन्तिम शय्या पर पड़े तथागत का उपदेश क्यों न उसके अन्तस्तल तक पहुँच जाता? सभी शङ्काओं से मुक्त हो उसने कहा— "भन्ते, मैं बुद्धधर्म्म और संघ की शरण जाता हूँ। मुझे आप भिक्षु बना लें।"

"सुभद्र, संघ का नियम है कि दूसरे सम्प्रदाय में प्रव्रजित व्यक्ति यदि बौद्ध-संघ में प्रव्रजित होना चाहे, तो उसे चार मास तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।"

"भन्ते, चार मास तो क्या, मैं चार वर्षों तक प्रतीक्षा करने के लिये तैय्यार हूँ।"

भगवान् ने कहा—"तो आनन्द, सुभद्र को प्रव्रजित करो।"

सुभद्र बुद्ध के अन्तिम शिष्य हुए।

(११)

समय नजदीक आ गया था। भगवान् ने कहा—'भिक्षुओ' सम्भव है मेरे बाद तुम समझने लगो कि अब हमारा शास्ता (उपदेशक) कोई नहीं, हमारा मार्ग दर्शक कोई नहीं। ऐसा कभी मत समझना। जिन-जिन धर्मों का मैंने उपदेश किया है, उन्हीं को तुम अपना शास्ता और मार्ग-दर्शक समझना।

भिक्षुओ, मेरे बाद यदि संघ आवश्यक समझे तो छोटे-मोटे नियमों को छोड़ भी सकता है"

*   *   *   *

"आनन्द, छन्न भिक्षु को मेरे बाद ब्रह्मदण्ड देना।"

"भन्ते, ब्रह्मदण्ड क्या है ?"

"आनन्द, भिक्षुओं को छन्न जो चाहे सो कहे, किन्तु भिक्षु छन्न से न तो कुछ बोलें न उसे कुछ उपदेश ही करें।'

×   ×   ×   ×

"भिक्षुओ, यदि तुममें से किसी को बुद्ध धर्म या संघ के बारे में किसी प्रकार की कुछ शंका हो, तो अब समय है पूछ लो। फिर न पछताना कि तथागत के जीवन काल में अपनी शङ्काएँ हमने क्यों न मिटा लीं!"

सभी भिक्षु चुप थे। किसी को कुछ न पूछना था।

"अच्छा तो भिक्षुओ, मैं तुम्हें कहता हूँ, संसार की सभी चीजें बनी हैं। इसलिये बिगड़ने वाली हैं, नश्वर हैं। तुम अपने लक्ष्य की प्राप्ति में प्रमाद न करना। यही तथागत के अन्तिम शब्द हैं।"

×   ×   ×   ×

वह भुवन-प्रदीप-संसार से सदा के लिये बुझ गया। तथागत महापरिनिर्वाण को प्राप्त हो गये।

सारिपुत्र

उन दिनों राजगृह में संजय नाम के एक परिव्राजक निवास करते थे। उपतिष्य और कोलित नाम के उनके दो शिष्यों ने आपस में प्रतिज्ञा की—"जिस किसी को पहले अमृत (ज्ञान) की प्राप्ति हो, वह दूसरे को उसकी सूचना दे।"

पूर्वाह्न का समय था। त्रिचीवर* धारण किये, हाथ में पात्र लिये; आयुष्मान अश्वजित राजगृह में भिक्षार्थ घूम रहे थे। उपतिष्य परिव्राजक ने उन्हें इस संयमी ढंग से विचरते देख सोचा—'या तो यह आयुष्मान अर्हत् पद† प्राप्त हैं, अथवा अर्हत्व के मार्ग पर आरूढ़ हैं। मैं क्यों न इनसे पूछूँ कि आप किसके शिष्य हैं।' लेकिन फिर सोचा—'यह समय प्रश्न पूछने का नहीं। इस समय यह भिक्षार्थ भ्रमण कर रहे हैं। मुझे चाहिए कि एक विद्यार्थी की भाँति मैं इनके पीछे-पीछे चलूँ, और यदि मुझे कुछ पूछना हो, तो इनके किसी जगह शान्त होकर बैठने पर पूछूँ।"

भिक्षा समाप्त कर आयुष्मान अश्वजित अपने स्थान पर पहुँचे। उपतिष्य परिव्राजक (सारिपुत्र) पीछे ही थे। अश्व-

---

* भिक्षु के तीन वस्त्र।

† गीता के स्थितप्रज्ञ की कल्पना से बौद्धों के अर्हत-पद की कल्पना की जा सकती है।

जित के शान्त हो अपने स्थान पर बैठने पर सारिपुत्र ने एक ओर खड़े होकर पूछा—"आयुष्मान! आपकी आकृति अत्यन्त शान्त और सुन्दर है। छवि-वर्ण परिशुद्ध है। आप किसको अपना गुरु बनाकर प्रव्रजित हुए हैं? आपका शास्ता कौन है? आप किसके धर्म को मानते हैं?"

अश्वजित—"आयुष्मान! मैं शाक्यकुल-प्रव्रजित शाक्य-पुत्र महाश्रमण (गौतम) को अपना गुरु बनाकर प्रव्रजित हुआ हूँ। वही मेरे शास्ता है। मैं उन्हीं के धर्म को मानता हूँ।"

"आयुष्मान के शास्ता का क्या सिद्धान्त है?"

"आयुष्मान! मैं इस धर्म में अभी नया ही प्रव्रजित हुआ हूँ, इसलिए विस्तार पूर्वक तो कुछ कह नहीं सकता। हाँ, संक्षेप में कुछ कहता हूँ।"

"आयुष्मान! मुझे भी सार से ही मतलब है। बहुत से शब्दों को लेकर मैं ही क्या करूँगा?"

अश्वजित—"महाश्रमण की शिक्षा का सार इतने में ही समझिये—

'सभी सकारण धर्मों (दुःखादि) का कारण और उनके निरोध का उपाय।❀"

सारिपुत्र ने सुना तो मानो एकदम उनकी ज्ञान की आँख खुल गई। उन्हें उसी समय स्पष्ट हो गया कि जितने भी समुदय

❀ये धम्मा हेतुप्पभवा तेस हेतु तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो एवं वादी महासमणो॥

धर्म (=उत्पन्न होने वाले पदार्थ) हैं, वे सभी विरोध-धर्म (=नाशवान) हैं ।†

सारिपुत्र अपने मित्र कोलित परिव्राजक (मौग्दल्यायन) के पास गये । मौग्दल्याथन ने सारिपुत्र को देखते ही कहा—"आयुष्मान ! तेरी आकृति अत्यन्त शान्त और सुन्दर है। छबि-वर्ण परिशुद्ध है । तूने कहीं अमृत तो नहीं पा लिया ?"

'हाँ, आयुष्मान ! अमृत पा लिया ।"

"आयुष्मान ! तूने अमृत कैसे पा लिया ?"

सारिपुत्र ने आयुष्मान अश्वजित-सम्बन्धी सारी कथा कह सुनाई, जिसे सुन मौग्दल्यायन की भी ज्ञान की आँख खुल गई । उन्हें भी बोध हुआ कि जितने समुदय धर्म (उत्पन्न होने वाले पदार्थ) हैं, वे सभी निरोध धर्म (नाशवान) हैं ।

मौग्दल्यायन ने कहा—"चलो सारिपुत्र ! भगवान के पास चलें । वही हमारे शास्ता हैं ।"

भगवान ने देखा, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन चले आ रहे हैं । देखकर कहा—"भिक्षुओ, ये जो दो मित्र उपतिष्य (सारिपुत्र) और कोलित (मौद्गल्यायन) आ रहे हैं, ये दोनों मेरे अग्र श्रावक होंगे—श्रेष्ठ शिष्य होंगे ।"

सरिपुत्र और मौद्गल्यायन ने भगवान के पास पहुँच, चरणों में सिर झुका कर कहा—"भन्ते ! भगवन्, हमें प्रव्रजित करें, उपसम्पन्न करें ।"

---

† महावग्ग

भगवान् बोले—"आओ भिक्षुओ! धर्म सु-आख्यात है। दुःख के सर्वनाश के लिए ब्रह्मचर्याचरण करो।"

इस प्रकार सारिपुत्र और मौद्गल्यायन प्रव्रजित हुए।†

× × ×

मध्याह्न से पूर्व भगवान् त्रिचीवर धारणकर, भिक्षापात्र ले, अपने पिता शाक्य-शुद्धोद्धन के यहाँ गये। वहाँ आसन बिछा था। जा विराजमान हुए। राहुल-माता ने राहुल को पकड़कर कहा—"राहुल! देख, यह तेरे पिता हैं। जा, दायज (विरासत) माँग।"

राहुल कुमार भगवान् के पास जा खड़े हुए और बोले—"श्रमण! तेरी छाया सुखमय है।"

भगवान आसन से उठ कर चल दिये। राहुल कुमार पीछे-पीछे चले।

"श्रमण! मुझे दायज दे! श्रमण! मुझे दायज दे।"

भगवान ने सारिपुत्र की ओर देखा और बोले—"अच्छा तो सारिपुत्र! करो राहुल कुमार को प्रव्रजित!"

"भन्ते! राहुलकुमार को कैसे प्रव्रजित करूँ?"

भगवान बोले—"भिक्षुओ, तीन शरणागमन से श्रामणेर-प्रव्रज्या की आज्ञा देता हूँ। पहले प्रव्रज्यापेक्षीका सिर-दाढ़ी मुड़वा, उसे काषाय वस्त्र पहनाना चाहिए। फिर एक कंधे पर उपरना

---

† महावग्ग

करवा, भिक्षुओं की पाद-वन्दना करवा, उकड़ूँ बैठवा, हाथ जोड़वा, उससे कहलवाना चाहिए—

'बुद्धं सरणं गच्छामि।'
'धम्मं सरणं गच्छामि।'
'संघं सरणं गच्छामि।'

दूसरी बार और तीसरी बार भी इसी प्रकार—'बुद्धकी शरण जाता हूँ, धर्म को शरण जाता हूँ, संघ की शरण जाता हूँ' कहलवाना चाहिए।

सारिपुत्र ने आयुष्यमान राहुल-कुमार को प्रव्रजित किया।†

× × ×

राध नाम का एक ब्राह्मण प्रव्रज्या के लिए अत्यन्त उत्सुक था। उसने भिक्षुओं से प्रव्रज्या की याचना की। भिक्षुओं ने (किसी कारणवश) उसे प्रव्रजित न किया। प्रव्रज्या न मिलने से वह ब्राह्मण सूख कर दुर्बल, दुर्वर्ण, रूखा, पीला, हाड़-मांस भर रह गया। भगवान ने उस ब्राह्मण को देखकर भिक्षुओं से इसका कारण पूछा। भिक्षुओं ने कहा—"भन्ते! यह प्रव्रज्या न मिलने से सूखकर···हाड़-मांस भर रह गया है।"

भगवान ने कहा—"भिक्षुओ! तुममें से किसी को इस ब्राह्मण का कोई उपकार स्मरण है?"

सब चुप थे। सारिपुत्र ने कहा—"भन्ते! मैं इस ब्राह्मण का उपकार स्मरण करता हूँ।"

---

† महावग्ग

"सारिपुत्र ! तू इस ब्राह्मण का कौनसा उपकार स्मरण करता है ?"

"भन्ते ! मैं राजगृह में भिक्षाटन कर रहा था। इस ब्राह्मण ने मुझे करछी-भर भात दिलवाया था।"

"साधु (बहुत अच्छा) साधु सारिपुत्र ! सत्पुरुष कृतज्ञ-कृतवेदी होते हैं। अच्छा तो सारिपुत्र ! तू ही इस ब्राह्मण को प्रव्रजित और उपसम्पादित कर।"

सारिपुत्र ने राध ब्राह्मण को प्रव्रजित किया।†

× × ×

संघ में कुछ भिक्षु छःवर्गीय भिक्षु कहलाते थे। वे हर जगह सबसे पहले पहुँच कर विहार‡ और शय्याएँ दखल कर लेते थे। 'यह हमारे उपाध्याय के लिए है। यह हमारे आचार्य के लिए है। यह हमारे लिए है।'

एक दिन उनके सब विहार और शय्याएँ दखल कर लेने पर आयुष्मान सारिपुत्र शय्या न पाकर सारी रात बाहर ही किसी वृक्ष के नीचे बैठे रहे।

रात के भिनसार को भगवान ने उठकर खाँसा। सारिपुत्र ने भी खाँसा।

"वहाँ कौन है ?"

"भगवन् ! मैं सारिपुत्र।"

"सारिपुत्र ! तू यहाँ क्यों बैठा है ?"

---

†महावग्ग

‡ भिक्षुओं के निवास-स्थान।

"सारिपुत्र ने सारी बात कह सुनाई। भगवान ने भिक्षु-संघ को सम्बोधित किया—"भिक्षुओ! क्या छःवर्गीय भिक्षु सचमुच आगे-आगे जाकर विहार और शय्याएँ दखल कर लेते हैं ?"

सचमुच, भगवन्!"

"भगवान ने उन्हें धिक्कारते हुए कहा—"कैसे हैं ये नालायक भिक्षु, जो आगे-आग जाकर विहार और शय्याएँ दखल कर लेते हैं। भिक्षुओ! तुम्हें मालूम है कि प्रथम-आसन, प्रथम-जल, प्रथम-परोसा किसे मिलना चाहिए ?"

किसी ने कहा—"भगवन्, जो क्षत्रिय-कुल से प्रव्रजित हुआ हो ?"

किसी ने कहा—"भगवन्, जो ब्राह्मण-कुल से प्रव्रजित हुआ हो।"

किसी ने (। —"भगवन्, जो गृहपति (=वैश्य) कुल से प्रव्रजित हुआ हो।"

इसी प्रकार किसी ने सौत्रन्तिक (=सूत्रपाठ करने वाला), किसी ने विनयधर (=भिक्षु-सङ्घ के नियमों को स्मरण रखनेवाला), किसीने धर्म-कथित (=धर्म-व्याख्याता) आदि के नाम बताये।

भगवान ने धार्मिक कथा कह भिक्षुओं को सम्बोधित किया—"भिक्षुओ! सङ्घ में जो पहले प्रव्रजित हुआ है (चाहे वह किसी जाति का हो), वह बड़ा है; जो पीछे प्रव्रजित हुआ है (चाहे यह किसी जाति का हो), वह छोटा है। इसी नियम

से साँघिक वृद्धपन के अनुसार आदर-सत्कार, अभिवादन, प्रथम-आसन, प्रथम-जल, प्रथम-परोसा—सब होना चाहिए।"†

× × ×

पारिलेय्यक में इच्छानुसार विहार कर, भगवान क्रमशः चारिका करते हुए, श्रावस्ती पहुँचे। श्रावस्ती में अनाथ-पिंडक के जेतवनाराम में ठहरे। तब कौशाम्बी के उपासकों ने विचारा—"यह कौशाम्बी के भिक्षु बड़े अनर्थकारी हैं। इन्हीं से पीड़ित होकर भगवान यहाँ से चले गये। अच्छा, तो हमें चाहिए कि अब से हम इनका किसी प्रकार का आदर-सत्कार न करें, यहाँ तक कि आने पर भिक्षा भी न दें। जब यह हमसे असत्कृत होंगे—अनादृत होंगे, तो यहाँ से किसी दूसरी जगह चले जायेंगे या गृहस्थ बन जायेंगे, या भगवान को जाकर प्रसन्न करेंगे।"

यह सोच उन्होंने कौशाम्बी-निवासी भिक्षुओं का आदर-सत्कार करना और उन्हें भिक्षा देना छोड़ दिया।

तब भिक्षुओं को समझ आई। उन्होंने कहा—"चलो, आवुसो! भगवान के पास श्रावस्ती चलें, और इस झगड़े को शान्त करें।"

सभी भिक्षु अपना-अपना आसन समेट, पात्र-चीवर ले, श्रावस्ती की ओर चले।

आयुष्मान सारिपुत्र को मालूम हुआ। उन्होंने जाकर

---

† महावग्ग

भगवान से कहा--"भन्ते ! कौशाम्बी-निवासी झगड़ालू भिक्षु श्रावस्ती आ रहे हैं। मैं उनसे कैसे बरतूँ ?"

"सारिपुत्र ! तू उनसे धर्म के अनुसार बर्ताव कर।"

"भन्ते ! मैं धर्म या अधर्म कैसे जानूँ ?"

"सारिपुत्र ! अधर्मवादी के अठारह लक्षण हैं। वह (१) धर्म को अधर्म कहता है, (२) अधर्म को धर्म कहता है, (३) विनय (=भिक्षु-नियम) को अविनय कहता है, (४) अविनय को विनय कहता है, (५) तथागत द्वारा भाषित को अभाषित कहता है, (६) अभाषितको भाषित कहता है···इन अठारह बातों से सारिपुत्र ! तू पहचान कि कौन धर्मवादी है, कौन अधर्मवादी।"

(महावग्ग)

× × ×

सारिपुत्र और मौग्दल्यायन सहित पाँच सौ भिक्षुओं को साथ लेकर श्रावस्तीसे भगवान् कीटागिरि* की ओर चले। अश्वजित और पुनर्वसु भिक्षुओंने सुना—'सारिपुत्र और मौग्दल्यायन सहित पाँच सौ भिक्षुओंको साथ लेकर भगवान् कीटागिरिकी ओर आ रहे हैं।' उन्होंने सलाह की—"आवुसो ! सारिपुत्र और मौग्दल्यायनकी नीयत अच्छी नहीं है। ये दोनों पापेच्छुक हैं। हमें चाहिये कि हम उन्हें शयनासन न दें।

* बनारस से अयोध्या (साकेत) के रास्तेपर वर्तमान केराकत (जौनपुर) या उसके आसपास कोई स्थान रहा होगा।

(श्रीराहुल सांकृत्यायन)

इसलिये आओ, हम सब सांघिक (=व्यक्तिविशेषको नहीं वरन् सारे संघकी) सम्पत्तिको बाँट लें।" यह सोच, उन्होंने सब सांघिक सम्पत्ति बाँट ली।

क्रमशः चारिका करते हुए भगवान् कीटागिरि पहुँचे। भिक्षुओंने आगे जाकर अश्वजित और पुनर्वसुसे कहा—"आवुसो! भगवान् आ रहे हैं। भगवान्, संघ, सारिपुत्र और मौग्दल्यायनके लिए शयनासन ठीक करो।"

अश्वजित पुनर्वसु बोले—"आवुसो! यहाँ सांघिक शयनासन नहीं है। हमने सभी सांघिक सम्पत्ति बाँट ली है। भगवान्का स्वागत है। वे आयें, चाहे जिस विहार में ठहरें। सारिपुत्र और मौग्दल्यायन पापेच्छुक हैं। हम उन्हें शयनासन नहीं देंगे।"

"क्या आवुसो! तुमने सांघिक शयनासन बाँट लिया है?'

"हाँ, आवुसो! हमने सांघिक शयनासन बाँट लिया है।"

भिक्षुओंने जाकर भगवान्से कहा।

भगवान्ने धिक्कारकर कहा—"भिक्षुओ! पाँच वस्तुएँ अविभाज्य हैं। न इनको संघ ही बाँट सकता है, न व्यक्ति। बाँट लेनेपर भी यह संघकी ही सम्पत्ति रहती है। जो इन्हें बाँटता है, वह दोषी है। वे पाँच वस्तुएँ हैं:—(१) आराम या आराम-वस्तु (=भिक्षुओंका निवास-स्थान), (२) विहार

(=भिक्षुका निवास-स्थान), (३) मंच, पीठ, गद्दा, तकिया··(४) लोह, कुंभा··(५) बल्ली, बाँस, मूँज··।"*

× × ×

गन्धकुटी* के परिवेण (आँगन) में बिछे हुए उत्तम आसन पर भगवान् विराजमान थे। भिक्षु-संघने उन्हें चारों ओर से घेर रखा था। भगवान् बोले—"भिक्षुओ! अब मैं वृद्ध (५६ वर्षका) हो चला। अब तक नित नये उपस्थाक (=परिचायक) से काम चलता रहा है; लेकिन मैं देखता हूँ कि कोई-कोई भिक्षु 'इस मार्गसे चलो' कहनेपर दूसरे मार्गसे चलते हैं। मेरा पात्र-चीवर ज़मीनपर ही रख देते हैं, इसलिए अब तुम मेरे लिए एक नियत उपस्थाक खोजो।"

भिक्षुओं ने सुना तो उन्हें बड़ा खेद हुआ। आयुष्मान सारिपुत्रने कहा—"भगवान्, मैं सेवा करूंगा।"

भगवान् बोले—"नहीं, सारिपुत्र! जिस दिशा में तू जाता है, उस दिशामें फिर मेरे जानेकी ज़रूरत नहीं रह जाती। तेरा उपदेश बुद्धोंके उपदेशके समान है, इसलिए सारिपुत्र! मुझे तेरे उपस्थाक बननेसे काम नहीं।"

× × ×

---

*(चूलवग्ग)

* जेतवनाराम (श्रीवस्ता) मे भगवान के रहने की कुटी।

†(अंगुत्तरनिकाय अट्ठकथा)

भगवान् श्रावती में ठहरे हुए थे। आयुष्मान आनन्द भगवान् के पास पहुँच, प्रणामकर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे हुए आनन्द से भगवान् ने पूछा—"आनन्द! क्या तुझे भी सारिपुत्र अच्छे लगते हैं?"

"भन्ते! कौन ऐसा है, जो मूर्ख, दुष्टचित्त, मूढ़ नहीं है, जिसे सारिपुत्र अच्छे नहीं लगते? भन्ते! आयुष्मान सारिपुत्र पंडित हैं। महाप्रज्ञावान हैं…अल्पेच्छुक हैं, सन्तोषी हैं… निर्लिप्त हैं, प्रयत्नशील हैं…वक्ता…पाप नाश करनेवाले हैं। ऐसे सारिपुत्र, भन्ते! किसे अच्छे नहीं लगेंगे?"

"आनन्द! ऐसा ही है, ऐसा ही है। जो कुछ तूने कहा है, मैं इन सबका समर्थन करता हूँ।"*

× × ×

भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिंडक के जेतवनाराम में ठहरे थे।

आयुष्मान सारिपुत्र मगध में नालक† ग्राम (अपनी जन्म-भूमि) में रोग से अत्यन्त पीड़ित थे। आयुष्मान चुन्द उनकी सेवा-शुश्रूषा कर रहे थे। इसी रोग की अवस्था में आयुष्मान सारिपुत्र परिनिर्वाण को प्राप्त हो गये।‡

*(संयुत्त निकाय)

† पटना ज़िलेके नालन्दके समीप वर्तमान सारिचक्क (बड़ागाँव)

‡ कार्तिक मासकी पूर्णिमा।

आयुष्मान चुन्द सारिपुत्र का पात्र-चीवर ले श्रावस्ती में अनाथपिंडक के जेतवनाराम में, जहाँ आयुष्मान आनन्द रहते थे, पहुँचे। जाकर आनन्द से बोले—"आनन्द! आयुष्मान सारिपुत्र परिनिर्वाण को प्राप्त हो गये। यह उनका पात्र-चीवर है, और इस जल छानने के कपड़े में उनके धातु (अस्थि-शेष)* हैं।

"चुन्द! चलो भगवान के पास चलें, और उनसे जाकर कहें।"

चुन्द और आनन्द भगवान के पास पहुँचे और प्रणाम कर एक ओर बैठ गये। आनन्द ने कहा—"भन्ते! आयुष्मान चुन्द कहते हैं कि सारिपुत्र परिनिर्वृत हो गये। यह उनका पात्र-चीवर

* १८५१ में श्री० मैसे और कनिंघमने भिल्सा (साँची, रियासत भोपाल) के स्तूपकी खुदाई करवाई थी। स्तूप नं ३ में से आ० सारिपुत्र और मौग्दल्यायनके धातु मिले। जिन पत्थरकी डब्बियोंमें यह धातु मिले हैं, उनके ढकनपर ब्राह्मी अक्षरों में आ० सारिपुत्र और मौग्दल्यायनके नाम खुदे हुए हैं। यह धातु आजकल सारिपुत्र और मौग्दल्यायनकी जन्मभूमि से ७ हज़ार मील की दूरी पर लन्दन के कैनिंग्स्टन म्यूज़ियम में रखे हैं। सितम्बर (१९३२) की १३ तारीख़कोलंदन के बौद्धोंने सारिपुत्रका परिनिर्वाण दिवस मनाया था। उस दिन मि० कैम्पबेल (Curator museum) की कृपासे वहाँ के बौद्धोंको न-जाने कितनी शताब्दियोंके बाद अपने 'धर्म-सेनापति' सारिपुत्रके अस्थि-शेषके प्रति अपने हार्दिक भावोंको प्रगट करनेका अवसर मिला। पूर्व और पश्चिमने मिलकर धर्म-सेनापतिके 'फूलों' की फूलों से अर्चना की।

है, और इस पानी छानने के कपड़े में धातु-शेष। भन्ते! यह सुनकर मेरा शरीर तो मानो जड़ हो गया। चारों ओर अन्धकार छा गया। धर्म की तो बात ही क्या, दिशाएँ तक सूझनी बन्द हो गईं। ओह! सारिपुत्र परिनिर्वृत हो गये!"

"क्यों आनन्द! किस लिए? क्या सारिपुत्र शील को अपने साथ ले गये? समाधि को अपने साथ ले गये? प्रज्ञा को अपने साथ ले गये? विमुक्ति को अपने साथ ले गये? विमुक्ति ज्ञान-दर्शन को अपने साथ ले गये?"

"नहीं भन्ते! आयुष्मान सारिपुत्र न शील को अपने साथ ले गये, न समाधि को अपने साथ ले गये, न प्रज्ञा को अपने साथ ले गये, न विमुक्ति को अपने साथ ले गये। लेकिन भन्ते! आयुष्मान सारिपुत्र मेरे उपदेशक थे। वे धर्म के ज्ञाता थे। अपने सब्रह्मचारियों पर उनकी बड़ी कृपा थी। भन्ते! मैं सारिपुत्र की उस धार्मिक करुणा, दया, कृपा का स्मरण करता हूँ?"

"आनन्द! जिस प्रकार किसी बड़े भारी वृक्ष के खड़े रहते उसका सबसे बड़ा सार वाला तना टूटकर गिर जाये, इसी प्रकार महान भिक्षु-संघ के रहते सारवान सारिपुत्र का परिनिर्वाण हो गया। आनन्द! यह कहाँ मिलेगा कि जो पैदा हुआ है, जिसकी रचना हुई है, जो अस्तित्व में आया है, उसका विनाश न हो? नहीं आनन्द! यह नहीं हो सकता। इसलिए आनन्द! अपने दीपक आप बनो। किसी दूसरे का आश्रय मत देखो। धर्मको ही अपना दीपक समझो! धर्म का ही आश्रय ग्रहण करो।



अशोक-पुत्री संघमित्रा ने बोधि-वृक्ष की इस शाखा को २३०० वर्ष हुए
अनुराधपुर (सिंहल) में ले जाकर लगाया था।

महेन्द्र

जम्बुद्वीप में प्रतिष्ठापित हजारों विहारों का ध्यान धर, महाराज अशोक ने महास्थविर मो ग्ग लि पु त्त ति स्स से पूछा :—

"भन्ते ! बुद्ध-धर्म में किसका त्याग महात्याग है ?"

मोग्गलि पुत्त ने प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा :—

"भगवान (बुद्ध) के जीवनकाल में भी तेरे सदृश कोई त्यागी नहीं था।" सन्तुष्ट हुए राजा ने फिर पूछा:—"क्या मेरे जैसे आदमी को धर्म का सगा (=धर्म्मदायाद) कह सकते हैं ?"

स्पष्ट वक्ता महास्थविर ने कहा :—"राजन् तुम्हारे जैसे महात्यागी को भी धर्म का सगा (=धम्मदायाद) नहीं कह सकते; दाता (=दायक) कह सकते हैं। लेकिन जो अपने लड़के और लड़की को धर्म में प्रव्रजित कराये, उसे धर्म का दायाद और दायक दोनों कह सकते हैं।"

धर्म का दायाद बनने की इच्छा से महाराज अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा दोनों को बुलाकर पूछा:—

"तात ! क्या प्रव्रज्या ग्रहण करोगे ?"

" देव ! यदि आपकी इच्छा हो, तो हम आज ही प्रव्रजित हो सकते हैं। प्रव्रजित होने से हमारा और आपका दोनों का कल्याण है।"

बुद्धि और बल से युक्त महेन्द्र और संघमित्रा का प्रव्रज्या संस्कार बड़े समारोह से हुआ।

धन्य थे वह दोनों जिन्होंने पिता की इच्छा-मात्र पर गृहस्थ जीवन को त्याग दिया। प्रव्रज्या के समय महेन्द्र की आयु बीस वर्ष और कुमारी संघमित्रा की आयु अठारह वर्ष की थी।

× × ×

महामति महेन्द्र को प्रव्रजित हुए बारह वर्ष हो गये। उनके उपाध्याय महास्थविर मोग्गलि पुत्त तिस्स ने और संघ ने उन्हें 'मनोरम लंका-द्वीप में जाकर मनोज्ञ, बुद्ध धर्म (=जिन-शासन), की स्थापना की आज्ञा दी थी। महेन्द्र यह सोच कि 'इस समय लंका में वृद्ध मुनसिव का राज्य है, उनके पुत्र के सिंहासनारूढ़ होने पर लंका पहुँचूँगा', उपाध्याय और संघ की वन्दनाकर अन्य चार स्थविरों तथा सुमन श्रामणेर को साथ ले दक्षिण-गिरि (=राज-गृह के पर्वतों का दक्षिण प्रदेश) की ओर चल पड़े। वहाँ से धीरे धीरे विदिशा-गिरि (=भिल्सा से प्रायः तीन मील वर्तमान वेसनगर, रियासत गवालियर) पहुँच अपनी माता के दर्शन किये। आपकी माता का नाम था 'देवी'। 'देवी' की बहिन की लड़की का भन्डु नामक लड़का स्थविर के उपदेश से अनागामी फल (=संसार में दुबारा जन्म नहीं) को प्राप्त हुआ और स्थविर के पास रहने लगा।

महातेजस्वी महेन्द्र एक मास अपनी माता के पास रहकर ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा को चारों स्थविरों, सुमन श्रामणेर और

मण्डु सहित आकाश-मार्ग से आकर लंका में रमणीय मिश्रक पर्वत के शीलकूट नामक, शिखर में मनोहर अम्बस्थल पर उतरे। लंका-हितैषी-मुनि (=बुद्ध) ने लंकाके हित के लिये जिन के बारे में भविष्यवाणी की थी, उन लंका-वासियों द्वारा पूजित, लंका के लिये दूसरे बुद्ध-सदृश वह महामहेन्द्र भी आखिर लंका आ पहुँचे।

× × ×

राजा देवानां-प्रिय-तिष्य मिश्रक-पर्वत पर शिकार खेल रहे थे जिस प्रकार एक मृग श्रीरामचन्द्र को बहका कर कहीं का कहीं ले गया था, उसी प्रकार एक मृग राजा देवानां प्रिय तिष्य को भी बहकाकर जहां स्थाविर महेन्द्र खड़े थे, वहां ले आया। राजा देखकर शंकित हुआ। स्थविर ने कहा:—'आओ, तिष्य।' 'तिष्य' कहने से राजा ने उन्हें यक्ष समझा। स्थविर ने कहा:—

"महाराज! हम धर्मराज (बुद्ध) के श्रावक हैं और आप ही पर अनुग्रह करने के लिए जम्बुद्वीप से यहाँ आये हैं।" यह सुन और अपने मित्र महाराज अशोक का संदेश स्मरण कर राजा ने निश्चय किया कि सचमुच यह भिक्षु हैं। साथी भिक्षुओं की ओर देख राजा ने पूछा:—यह कब आये?

स्थाविर ने उत्तर दिया—मेरे साथ ही।

राजा—क्या जम्बुद्वीप में इस प्रकार के और भी भिक्षु हैं।

स्थविर—जम्बुद्वीप काषाय वस्त्र से प्रज्वलित है। वहाँ (इस समय) बहुत सारे त्रिविद्य (तीनों विद्याओं को जानने-वाले) सिद्ध, दिव्य श्रवण-शक्ति वाले अर्हत भिक्षु रहते हैं।

राजा—"भन्ते ! आये कैसे ?"

स्थविर—'न जल से, न स्थल से'

राजा ने समझ लिया कि आकाशमार्ग से आये।

महास्थविर ने राजा की जांच करने के लिये पूछा—

"राजन् ! इस वृक्ष का क्या नाम है ?"

राजा—"भन्ते ! इस वृक्ष का नाम आम है।"

स्थविर—"राजन् ! इस वृक्ष को छोड़ कर और भी आम्र वृक्ष हैं ?"

राजा—"भन्ते ! बहुत से आम्र वृक्ष हैं।"

स्थविर—"राजन् ! इस आम्र वृक्ष को तथा अन्य आम्र वृक्षों को छोड़ कर पृथ्वी पर और भी वृक्ष हैं ?"

राजा—"भन्ते ! बहुत हैं, किन्तु वह आम के नहीं।"

स्थविर—"राजन् ! इन अनाम्रवृक्षों और अन्य आम्र-वृक्षों को छोड़ कर भी पृथ्वी पर क्या कोई वृक्ष हैं ?"

"राजा ! भन्ते ! यही एक वृक्ष है।"

स्थविर समझ गये कि राजा बुद्धिमान् और पंडित हैं। इसी प्रकार और भी कई प्रश्नों द्वारा राजा की बुद्धि की जांच करके स्थविर ने राजा को 'हस्तिपादोपम्' सूक्त का उपदेश किया। यही उपदेश भगवान (बुद्ध) के जीवन काल में आयुष्मान् सारिपुत्र ने श्रावस्ती के लोगों को दिया था। अपनी सम्पूर्ण आयु का लगभग आधा भाग लंकावासियों के हित में बिता कर, चैत्य-पर्वत पर वर्षा-वास करते हुए साठ वर्ष की आयु

में महास्थविर ने निर्वाण प्राप्त किया। अनुराधपुर की चप्पा चप्पा जमीन लंकावासियों को महास्थविर और उनके उपकारों का स्मरण कराती है। जिस स्थान पर ऋषि महेन्द्र की देह का अन्तिम संस्कार किया गया था, कृतज्ञ सिंहल जाति आज भी उस स्थान को इसिभूमङ्गन (ऋषि-भूमि-अङ्गन) कहती और वहाँ श्रद्धा के फूल चढ़ाती है।

आचार्य बुद्धघोष

जितने भी विद्वान् प्राचीन तथा वर्तमान काल में सिंहल-द्वीप में हुए या रहे हैं, उनमें सर्वप्रमुख हैं आचार्य बुद्धघोष। संसार-भर के बौद्ध दार्शनिकों में उनका अपना स्थान है और किसी से कम ऊँचा नहीं। उनके बिना थेरवाद (= सिंहल, स्याम, बरमा का बौद्ध-धर्म) की पवित्रता बनी रहती, इसमें सन्देह है और पाली-साहित्य का जैसा निर्माण और प्रचार उनके द्वारा हुआ, वह तो उनके बिना होता ही नहीं। उन्होंने न केवल सिंहल टीकाओं के पाली अनुवाद किये; बल्कि उन अनुवादों को अपनी मौलिक व्याख्याओं और भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति की अत्यन्त मूल्यवान् सामग्री से अलंकृत किया। हाँ, उन्होंने ऊँचे दर्जे के कुछ ग्रन्थ भी लिखे हैं।

यह कितने अफसोस की बात है कि इस महान् विद्वान् के बारे में हमारा ज्ञान कुछ नहीं के बराबर है। हमें पता नहीं कि कभी किसी ने सरस्वती के इस वर-पुत्र की जीवनी लिखी भी? उनके व्यक्तिगत जीवन के बारे में हम जो कुछ थोड़ा-बहुत जानते हैं, उसका आधार या तो परम्परागत दन्त-कथा है, या उनके अपने ग्रन्थ हैं; या अन्य ग्रन्थों में जो कहीं-कहीं थोड़े बहुत कुछ उल्लेख हैं।

जीवन चरित्र की सी एक किताब बुद्धघोषकीउत्पत्ति उपलब्ध है। इसका दूसरा नाम महाबुद्धघोष-निदान-वस्तु (वत्थु) भी है। लेखक हैं महामंगल नामक एक स्थविर। १९९२ में प्रो० जेमजग्रे ने इस पुस्तक का संपादन और अनुवाद किया। उनका विचार है कि महामंगल स्थविर सिहल देशय थे और तेरहवीं सदी के इधर ही रहे होंगे; लेकिन उन्होंने इस सम्बन्ध में जो प्रमाण दिये हैं, वे सन्तोपजनक नहीं कहे जा सकते। पुस्तक में कोई विशेप काम की बात भी नहीं। महावंश में जो वृत्तान्त है, उसी वृत्तान्त के साथ स्थविर नागसेन तथा महास्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स* के जीवन की कुछ कहानियाँ लेकर खिचड़ी पकाई गई है और उसमें शामिल कर दी गई हैं कई लाल-बुझक्कड़ी बातें।

महावंश के अनुसार बुद्धघोष बुद्धगया के निवासी थे। तैलंग-मत है कि वह तैलंग-देश के थे। बर्मियों का कहना है कि वह बर्मा के थे। वे कहीं के रहे हों, इस बात में तनिक सन्देह नहीं कि वह काफी समय तक बुद्धगया में रहे। इस समय बुद्धगया का विहार (=मठ) सिंहल देशीय भिक्षुओं के अधिकार में था। चौथी सदी में कीर्ति श्री मेघवर्ण नामक सिंहल नरेश ने महाराज समुद्र-गुप्त की आज्ञा से उन

* महाराज अशोक के गुरु

भिक्षुओं के लिए जो वज्रासन* की उपासना करने के लिए सिंहल से भेजे गये थे, बुद्धगया में एक संघाराम बनवाया था। फाह्यान की यात्रा के समय बुद्धगया में तीन विहार थे, और ह्वानसांग के समय भी।

जिस समय बुद्धघोष पैदा हुए, उस समय भारत में पाली-बौद्धधर्म ह्रास पर था। बौद्ध सिद्धान्तों से प्रभावित अबौद्ध-दर्शन तथा संस्कृत भाषा उन्नति पर थी। बौद्ध पण्डितों ने कुछ सदी पूर्व से ही ब्राह्मण-प्रिय संस्कृत भाषा में लिखना आरम्भ कर दिया था। महाकवि अश्वघोष ने—जो कि प्रथम सदी में हुए—अपने ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखे। इसी प्रकार नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग प्रभृति महान् विचारकों ने। गुप्त-नरेश भी पाली-साहित्य की ओर से मन हटा कर संस्कृत-साहित्य की ही पीठ ठोंक रहे थे। संस्कृत-साहित्य के प्राधान्य का यह फल हुआ कि लगभग सभी संस्कृत-साहित्य और भाषा की सेवा में लग गये। इसी प्रकार छठी सदी तक शनैः-शनैः भारत से पाली-साहित्य और थेरवाद का युग जाता रहा।

सिंहल के महाविहार से संबन्धित जो भिक्षु उस समय बुद्धगया में रहते थे, वे पाँचवीं सदी में भी—जबकि बुद्धघोष

*जिस स्थान पर भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त किया था, उसे वज्रासन कहते हैं।

ने उनके संघ में दीक्षा ली—पाली-साहित्य ही को पकड़े हुए थे। जिस समय 'घोष' गया-विहार के संघ नायक रेवत महास्थविर को सर्व-प्रथम मिले, वह तीनों वेदों में पारङ्गत, सर्व शास्त्र निष्णात और बड़े वाक्-पटु थे।

भारत में वह धार्मिक-शास्त्रार्थों का युग था। शास्त्रार्थियों की खोज में घोष एक जगह से दूसरी जगह घूमते थे। एक दिन रेवत महास्थविर ने सुना कि घोष महाशय पातञ्जलि के योग-सूत्रों का पाठ कर रहे हैं। वे घोष के उच्चारण की शुद्धता पर इतने प्रसन्न हुए कि उस तरुण ब्राह्मण को बौद्ध बनाने की इच्छा से उन्होंने घोष के साथ वाद-विवाद आरम्भ कर दिया। घोष ने पूछा--क्या आप इन सूत्रों को समझते हैं ?

'मैं अच्छी तरह समझता हूँ। सूत्र सदोष हैं।'

वाद-विवाद आरम्भ हो गया। रेवत स्थविर ने ऐसी कड़ी आलोचना की कि घोष निरुत्तर हो गये। तब घोष ने रेवत स्थविर से कहा—अब आप अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन कीजिए। रेवत स्थविर ने अभिधर्म-पिटक का एक अंश पढ़ा। घोष की समझ में न आया। उसने पूछा—यह किसका मन्त्र है ?

स्थविर ने उत्तर दिया—बुद्ध-मन्त्र है।

'क्या आप सिखा देंगे ?'

'तभी सिखाऊँगा, जब बौद्ध-संघ के नियमानुसार प्रव्रज्या ग्रहण कर लोगे।'

घोष प्रव्रजित हो गये और उनका नाम हुआ—'बुद्ध-घोष।' उन्होंने रेवत महास्थविर से विनय तथा अभिधर्म—दोनों अच्छी तरह पढ़े और आगे चलकर बुद्धवाणी के असाधारण व्याख्याता हुए।

उनकी सबसे पहली रचना संस्कृत में ही हुई, जिसका नाम था ज्ञानोदय। तदनन्तर उन्होंने अटठसालिनी (अर्थशालिनी) टीका लिखी और उसके बाद वह परित्त (=परित्राण) धर्म-देशना* को टीका (अर्थ-कथा) लिखने जा रहे थे कि उनके उपाध्याय रेवत स्थविर ने उन्हें आज्ञा दी कि वह सिंहल चले जायँ और अर्थ-कथाएँ लिखने से पहले सिंहल के महाविहार में जो अर्थ-कथाएँ स्वरक्षित हैं और उनकी जो परम्परागत व्याख्या है, उसका अध्ययन करें। बुद्धघोष ने अपने गुरु को आज्ञा सिर आँखों पर ली।

मालूम होता है कि उन्होंने भारत में रहते जिन ग्रन्थों की रचना की, वे कृतियाँ सफल नहीं हुईं। इसमें सन्देह नहीं कि वह प्रकांड विद्वान् थे; लेकिन स्थविरवाद परम्परा से पूर्ण रूप से परिचित न होना उनकी कमी थी और स्थविरवादी दृष्टि-कोण से तो यह कमी बहुत ही बड़ी थी। अपनी तरुणाई में बुद्धघोष पातञ्जलि योग के कट्टर अनुयायी

*पाली सूक्तों का प्राचीन संग्रह।

थे; इसलिये आगे चलकर भी उन्होंने जो कुछ लिखा, उसमें के बहुत से उदाहरण तथा व्याख्याएँ पातञ्जलि-योग के सदृश ही हैं। उनके द्वारा की गई किन्हीं-किन्हीं शब्दों की व्युत्पत्ति तो बिल्कुल यास्क के निरुक्त से ली गई प्रतीत होती है।

बुद्ध घोष सिंहल पहुँचे। उस समय राजा महानाम सिंहासनारूढ़ थे। महाविहार के संघ-नायक थे महास्थविर संघपाल। आपने महास्थविर संघपाल से ही सिंहल अर्थकथाएँ पढ़ीं। अध्ययन समाप्त हो चुका, तो आपने स्थविरों से प्रार्थना की कि आपको वह सब सिंहल अर्थकथाएँ दे दी जायें, जिन्हें देखकर आप पाली-अर्थकथाएँ लिख सकें। स्थविरों ने बुद्धघोष के हाथों इतने बड़े कार्य के सम्पादन होने की आशा लगाने से पहले उसकी परीक्षा लेनी चाही। आचार्य बुद्ध-घोष ने विसुद्धि मग्ग (विशुद्धि मार्ग) नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखकर परीक्षा दी। यह एक प्रकार से सारे-के-सारे त्रिपिटक का सारांश है और बुद्ध-घोष के असाधारण पाण्डित्य तथा प्रतिभा का परिचायक है। संघपाल तथा दूसरे महास्थविरों ने उनके ज्ञान की गहराई से प्रसन्न हो उन्हें जिन-जिन ग्रन्थों की आवश्यकता थी, उन सबका मिलना उनके लिए सुलभ कर दिया। रुवन-वेलि डागोबा× (- धातु गर्भ) से थोड़ी ही दूर पर ग्रन्थकार-परिवेण में उनके रहने

× अनुराधपुर का प्रसिद्ध चैत्य।

का प्रबन्ध किया। यहाँ रहकर उन्होंने पाली-अर्थकथाएँ लिखीं। इस कार्य को पूरा करने में उन्हें पूरे तीन वर्ष लगे। अर्थ-कथाएँ लिखने का कार्य समाप्त हो गया, तो उनकी एक-एक प्रति लेकर वह अपने गुरु के दर्शनार्थ बुद्धगया में आये। गुरु अपने सुयोग्य शिष्य से मिलकर प्रसन्न हुए होंगे। थोड़े समय बाद बुद्धगया में ही उनका पंचस्कन्धात्मक व्यक्तित्व पञ्चत्त्व को प्राप्त हुआ। कहते हैं, बोधि-मण्डप के समीप ही कहीं उनका अन्तिम संस्कार हुआ था और उनकी शरीर-धातु समाधिस्थ की गई थी।

जितने ग्रन्थ आ० बुद्धघोष द्वारा रचे कहे जाते हैं, उनमें जातकटठकथा* की भाषा और रचना-शैली उनके अन्य ग्रन्थों से नहीं मिलती; इसलिए जातकटठकथा को उनकी कृति नहीं समझना शायद अच्छा है। अपने सर्व-श्रेष्ठ ग्रन्थ विशुद्धि मार्ग की रचना में, कहा जाता है कि उन्होंने एक और ग्रन्थ, 'विमुक्ति-मार्ग का आश्रय लिया। उनके समय अर्थात्—पाँचवीं सदी में, यह ग्रन्थ सिंहल में विद्यमान रहा होगा। इसकी रचना प्रथम सदी में सिंहल के एक उपतिष्य नामक स्थविर ने की थी। यह ग्रन्थ अब केवल अपने चीनी अनुवाद के रूप में उपलब्ध है, जो कि पाँचवीं सदी का ही है। उस समय इस महान् टीकाकार

*जातकटठकथा का हिन्दी अनुवाद (प्रा० भाग) प्रकाशित हो गया है।

के लगभग सभी ग्रन्थ चीन पहुँचे, और चीनी भाषा में अनूदित हुए। कहा जाता है कि उनकी समन्त-पासादिका (विनय-पिटक की टीका) का अनुवाद सुदर्शन-विभाषा विनय के नाम से आज भी चीनी-साहित्य में उपलब्ध है। उनकी अन्य टीकाओं के नाम यह हैं—

१. समन्त पासादिका	...	विनय अटठ-कथा
२. कन्खा वितर्णी	...	पातिमोक्ख अटठ-कथा
३. सुमङ्गल विलासिनी	...	दीर्घ-निकाय अटठ-कथा
४. पपंच सूदिनी	...	मज्जिम निकाय अटठ-कथा
५. सारत्थ पकासिनी	...	संयुत्त निकाय अटठ-कथा
६. मनोरथ पूर्णि	...	अंगुत्तर निकाय अटट-कथा
७ अत्थसालिनी	...	अत्थसंगिनी X अटठ-कथा
८, सम्मोह विनोदिनी	...	विभंग X अटठकथा
९. खुद्दक निकाय अटठ-कथा	...	...
१०. धम्मपद अटठ-कथा	...	...
११. धातुकथा पकरण X अटठ-कथा		...
१२. पुद्गल पञ्ञत्ति पकरण X अटठ-कथा		...
१३. कथा वत्थु + अटठ-कथा	...	...
१४. यमक पकरण अटठ-कथा	...	...
१५: पटठान पकरण X अटठ-कथा	...	...
१६. परित्त (=परित्राण) अटठ-कथा		...

इस प्रकार उन्होंने सारे-के-सारे त्रिपिटक पर टीकाएँ लिखीं।

X अभिधम्म पिटक के सात ग्रन्थ

कुमारजीव

हम नहीं कह सकते कि किस कारण से भारतीय इतिहास ने अपने उन सुपुत्रों की कृतियों का लेखा नहीं रक्खा, जिन्होंने ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में ही चीन में बौद्ध धर्म का सूत्रपात करके चीन और भारत में अटूट सम्बन्ध स्थापित कर दिया था। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व विशाल-भारत के प्रधान पुरोहित भगवान बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को उपदेश दिया था—"हे भिक्षुओ, जाओ, संसार पर दया करने के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये, बहुत जनों के हित के लिये, देवों और मनुष्यों का कल्याण करने के लिये, संसार में विचारो। सद्धर्म की ध्वजा फहराओ और केवल परिशुद्ध, परिपूर्ण ब्रह्मचर्य का प्रचार करो।" भगवान की इस आज्ञा का पालन जिस लगन, जिस अदम्य उत्साह और जिस त्याग-भाव से हुआ, वह वास्तव में हमारे अभिमान की वस्तु है।

ईसा की प्रथम दो शताब्दियों में ही कुछ भारतीय विद्वानों ने चीन की अलंघ्य सीमाओं को पार करके वहाँ बौद्ध धर्म की ध्वजा गाड़ दी थी। तीसरी शताब्दि में तो कई भारतीय विद्वानों ने वहाँ पहुँच कर अनेक बौद्ध ग्रन्थों के चीनी-भषा में अनुवाद तक कर डाले। इसमें सन्देह नहीं कि थोड़े समय में चीनी जैसी कठिन भाषा पर अधिकार प्राप्त करना

सहज कार्य नहीं। इसलिये उन विद्वानों के वे अनुवाद भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से बहुत ऊँचे नहीं कहे जा सकते, लेकिन उस समय तो उनका विशेष उद्देश्य अपने विचारों को उस भाषा में परिणत कर बौद्ध धर्म का प्रचार करना ही था। चौथी शताब्दी के कुछ ही वर्ष बीतने पर चीनी बौद्ध धर्म के इतिहास में एक बिलकुल नवीन युग आरम्भ हुआ। इस युग में चीनी भाषा के बौद्ध धर्म-सम्बन्धी साहित्य ने आश्चर्यजनक उन्नति की। चीन में बौद्ध धर्म की नींव दृढ़ हो गई। अनेक भारतीय विद्वान् अपने अथक परिश्रम से चीन में भारतीय संस्कृति और सभ्यता की ध्वजा फहराने में सफल हुए और इस प्रकार दो अति प्राचीन सभ्य देशों का सदैव के लिये दृढ़ सम्बन्ध स्थापित हो गया। भारत की इस सत्कीर्ति का श्रेय जिन धर्मरक्ष, बुद्धभद्र, धर्मप्रिय आदि विद्वानों को है, उनमें सर्वोपरि स्थान कुमारजीव का है।

पश्चिमी और जापानी विद्वानों ने चीनी साहित्य के सम्बन्ध में जो खोज की है, उसमें कुमारजीव के जीवन पर प्रकाश डालने वाली कुछ सामग्री मिली है। काओ-सेङ्-चोङ्-ग्रन्थ में कुमारजीव का संक्षिप्त जीवन-चरित्र मिलता है। इस ग्रन्थ की रचना ५१९ ईस्वी में हुई थी। 'चू-साङ्-सङ्-की-सी नामक ग्रन्थ में भी यही विषय कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ मिलता है। इस दूसरे ग्रन्थ की रचना पहले ग्रन्थ से केवल एक वर्ष बाद ५२० ईस्वी में हुई। दुःख की बात है कि भारतीय इतिहास इस विषय में हमारी कुछ भी सहायता नहीं करता।

कुमारजीव के पूर्व-पुरुषों से ही उनके परिवार वालों का किसी भारतीय नरेश के दरबार में कुलागत अधिकार चला आता था। उनके पिता क्यू-माऊ-पैन (=कुमार) मंत्रिपद को छोड़ बौद्ध भिक्षु बन गये। जिस समय यह कूचा* प्रदेश में पहुँचे, तो वहाँ के राजा ने इन्हें अपना कुलगुरु बना लिया। वहाँ के राजा के यहाँ रहते-रहते राजा की बहन का इनसे प्रेम हो गया, और अन्त में उसने इनसे विवाह कर लिया। राजकुमारी का नाम 'जोवा' था। उससे उनके एक लड़का पैदा हुआ। पिता और माता के नाम को मिलाकर लड़के का नाम 'कुमारजीव' रक्खा गया। मौशिये पिलियोने कुमारजोव को जन्म-तिथि ३४४ ई० निश्चित की है।

जिस समय कुमारजीव की आयु सात वर्ष की हुई, उसी समय माता ने 'सियाओ लि' नामक बिहार में उनका प्रवेश करा दिया। वहाँ उन्होंने तमाम सूत्र कण्ठस्थ कर लिये। ९ वर्ष की आयु में कुमारजीव का काश्मोर में आगमन हुआ। यहाँ उन्होंने बन्धुदत्त नामक प्रसिद्ध आचार्य के पास रहकर 'दीर्घ-निकाय' और 'मध्य-निकाय' नामक ग्रन्थ समाप्त किये। तीन वर्ष तक बाहर रहकर, जब वह अपनी माता के साथ कूची को वापिस जा रहे थे, तो मार्ग में उनकी एक अर्हत से भेंट हुई, जिन्होंने भविष्यद्वाणी की कि 'कुमारजीव एक महापुरुष होगा।' काशगर में

*वर्तमान चीनी-तुर्किस्तान के पूर्वी भाग पर आर्य-भाषा-भाषियों का एक उपनिवेश 'कूचा' नाम से विख्यात था।

रहकर कुमारजीव ने छहों पदों सहित अभिधर्म को समाप्त किया। काशगर का राजा उन्हें अपने दरबार में ही रखना चाहता था, किन्तु कूचा के राजा ने उन्हें वहाँ रहने नहीं दिया और आग्रहपूर्वक अपने यहाँ बुला लिया।

बीस वर्ष की आयु में कुमारजीव ने नियमित रूप से संन्यास ग्रहण किया और अब वह कूचा-राज्य के ही विहार में रहने लगे। यहाँ उन्होंने स्थाविर विमलाक्ष से सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के विनय के १० भाग पढ़े।

जिस समय कुमारजीव कूचा में थे, उसी समय चीन के चिन-वंशी राजा के एक सेनापति ने कूचा पर आक्रमण किया। इस सेनापति का नाम लू-काङ् था। कूचा का राजा इसका मुकाबला न कर सका और हार मान ली। लू-काङ ने कूचा राज्य के अनेक आदमी कैद कर लिये, और उनको अपने साथ चीन ले गया। इन बन्दियों में एक कुमारजीव भी थे। लू-काङ् ने इनका कुछ विशेष आदर-सत्कार नहीं किया। वह इन्हें कूचा के राजा की लड़की से विवाह करने के लिये मजबूर करने लगा। यह कन्या बहुत दिनों तक कुमारजीव से 'महासन्निपात' और 'वैथुल्यसूत्र' नामक ग्रन्थ पढ़ती रही। •

४०१ ई० में कुमारजीव की आयु ५६ वर्ष की हो गई थी। इसी वर्ष इनके जीवन का एक नया और महान् अध्याय आरम्भ हुआ, क्योंकि इसी वर्ष इनका प्रवेश चानगन के द्वितीय

चिन-वंशीय सम्राट के दरबार में हुआ। इस चीनी सम्राट् का नाम याओ-हिन था। इसने कुमारजीव का खूब स्वागत किया, और अपने साम्राज्य में बौद्ध धर्म प्रचार करने के निमित्त उनसे प्रार्थना की। ई० ४०१ के बाद, कुमारजीव केवल १२ वर्ष और जीवित रहे। ई० ४१३ में उनका देहावसान हो गया, किन्तु १२ वर्षों में ही उन्होंने चीन में एक प्रकार के नवजीवन का सञ्चार कर दिया।

महाराज याओ-हिन की प्रार्थना पर कुमारजीव ने बौद्ध ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद करना आरम्भ किया। हम नहीं कह सकते कि उन्होंने बौद्ध धर्म-सम्बन्धी किसी मौलिक ग्रन्थ की रचना भी की या नहीं। केवल उनका अनुवाद-कार्य ही हमारे सम्मुख है। इस अनुवाद-कार्य में उनके चीनी शिष्य भी उनके सहायक थे। अकेले इस अनुवाद कार्य से ही कुमारजीव ने चीनी साहित्य और चीन में बौद्ध धर्म प्रचार के कार्य में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। निस्सन्देह वे एक असाधारण व्यक्ति थे।

उन्होंने इतने थोड़े काल में लगभग १०० संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया। संस्कृत और चीनी भाषा में से एक भी उनकी मातृभाषा न थी, पर संस्कृत तो उन्होंने बाल-काल में ही पढ़नी आरम्भ कर दी थी, और सम्भव है चीनी भाषा का भी कुछ ज्ञान उन्होंने कूचा में ही प्राप्त कर लिया हो, क्योंकि कूचा में चीनियों

का काफी प्रभाव था। फिर भी उनका चीनी अनुवाद का ढंग कुछ ऐसा था कि उनके द्वारा अनूदित ग्रन्थ बिलकुल मौलिक की भाँति प्रतीत होते हैं। उन्होंने अनुवादकों की पुरानी शैली का अनुकरण न करके, अपनी नवीन शैली निकाली, जिसका फल यह हुआ कि उनकी भाषा अत्यन्त मधुर और सुन्दर रही। चीन में ह्यूनसाँग की भाषा से भी अधिक सुन्दर और रोचक कुमार जीव की भाषा मानी गई है। जापानी स्कूलों में प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है कि ह्यूनसाँग और कुमारजीव की भाषा की तुलना करो, और बताओ कि कौनसी भाषा उत्तम है? विद्यार्थियों से यही आशा की जाती है कि वह कुमारजीव की भाषा को ही श्रेष्ठ लिखेंगे। मोशिये पिलियो ने ठीक कहा है—"यद्यपि चीनी और संस्कृत में से कोई एक भी भाषा उनकी मातृ-भाषा नहीं थी, तो भी चीनी बौद्ध धर्म के अनुवादकों में कुमारजीव का स्थान बहुत ऊँचा है।" अध्यापक सिलवाँ लेवी ने तो चीन में बौद्ध धर्म की स्थापना करने वाले अनुवादकों में कुमारजीव को ही सब से बढ़कर माना है।

कुमारजीव ने ९८ ग्रन्थों का अनुवाद किया। ये अनुवाद बेठन के हिसाब से लगभग ४२५ होते हैं। ई० ७३० में जब चिचाङ् ने 'के-यन-लो' का संग्रह किया था, उस समय कोई ५२ ग्रन्थ अवथा ३०२ बेठन विद्यमान थे। आधुनिक काल में स्वर्गीय बोञ्जो नाञ्जो ने चीनी त्रिपिटक की जो सूची तैय्यार की है, उसमें

उन्होंने कुमारजीव द्वारा अनुवादित ४९ ग्रन्थों के नाम दिये हैं:—

(१) पञ्चविंशति-साहस्रिक-प्रज्ञा-पारमिता
(२) दश-साहस्रिक प्रज्ञा-पारमिता
(३) वज्र-छेदिका-प्रज्ञा-पारमिता
(४) प्रज्ञा-पारमिता सूत्र
(५) प्रज्ञा-पारमिता हृदयसूत्र
(६) पूर्ण परिपृच्छा
(७) सुमति-दारिका-परिपृच्छा
(८) ईश्वरराज बोधिसत्व-सूत्र
(९) बोधि हृदय व्यूह सूत्र
(१०) दशभूमिक सूत्र
(११) महापरिनिर्वाण सूत्र
(१२) सर्वपुण्य-समुच्चय समाधि-सूत्र
(१३) सद्धर्म-पुण्डरीक सूत्र
(१४) अवलोकितेश्वर-बोधिसत्त्व-समन्त-सुकुल-परिवर्त
(१५) विमल कीर्ति-निर्देश
(१६) महाद्रुम-किन्नरराज-परिपृच्छा
(१७) सर्वधर्म्म-परिवृत्ति
(१८) वसुधारा-सूत्र
(१९) विशेष चिन्ता-ब्रह्म-परिपृच्छा
(२०) सुखावत्यमृत-व्यूह सूत्र
(२१) मैत्रेय व्याकरण

(२२) मैत्रेय-बुद्धत्व-प्राप्ति सूत्र
(२३) गयाशीर्ष
(२४) महामयूरी विद्या-रागिनी
(२५) अचिन्त्य-प्रभास-निर्देश सूत्र
(२६) सुरङ्गम-समाधि
(२७) कुशल-मूल सम्परिग्रह, अथवा परिधर-सूत्र
(२८) सहस्र-युद्ध-निदान-सूत्र
(२९) पत्ति-सूत्र
(३०) समुद्राष्ट कल्प-सूत्र
(३१) दीपङ्कराव दान-सूत्र
(३२) समाधि सूत्र
(३३) सर्वास्तिवाद प्रातिमोक्ष
(३४) महाप्रज्ञ-पारमिता-(सूत्र)-शास्त्र
(३५) प्रान्य-मूल-शास्त्र टीका
(३६) दशभूमि-विभाषा सूत्र
(३७) सूत्रालङ्कार शास्त्र
(३८) द्वादश-निकाय शास्त्र
(३९) क्षत-शास्त्र
(४०) बोधिमार्ग-विषयक शास्त्र
(४१) सत्य-सिद्धि-शास्त्र
(४२) ध्यानावस्थित होने का शास्त्र
(४३) समाधि अवस्था के नियमों की व्याख्या

(४४) समुक्तावदान-सूत्र

(४५) ध्यान मार्ग के संक्षिप्त

(४६) बोधिसत्व की मिथ्याचार निन्दा

(४७) बोधिसत्व अश्वघोष की जीवनी

(४८) बोधिसत्व नागार्जुन की जीवनी

(४९) बोधिसत्व देव की जीवनी

इस सूची पर थोड़ा सा ध्यान देने से यह बात स्पष्ट दिखाई देती है कि कुमारजीव की दृष्टि में तान्त्रिक ग्रन्थों का कुछ विशेष महत्त्व न था। आगे चलकर तो चीन के साहित्य में तान्त्रिक ग्रन्थों की ही भरमार हो गई है। कुमारजीव का अधिक ध्यान समाधि और ध्यान विषयक साहित्य की ओर था। अनेक प्रकार की प्रज्ञा-पारमिताओं (=दर्शनों) में भी उनकी रुचि थी। चीन में ही नहीं, बल्कि तिब्बत में भो इन पुस्तकों का बड़ा प्रचार है। 'अश्वघोष का जीवन-चरित्र' और 'नागार्जुन का जीवन-चरित्र' ये दोनों ग्रन्थ बड़े महत्त्व के हैं और इनकी भाषा भी खूब मजी हुई है। उत्तरीय बौद्धों के स्वर्ग अथवा सुखावती का जो चित्र कुमारजीव ने खींचा, उसने उनके अनुयायियों को मोहित कर लिया।

कुमारजीव के गुरु विमलाक्ष का नाम ऊपर आया है। पहले यह काश्मीर में रहते थे। वहाँ से भागकर कूचा पहुँचे। कूचा में ही इन्होंने कुमारजीव को विनय के ग्रन्थ पढ़ाये। वहाँ से कुमारजीव तो चीनी सेनापति के हाथ बन्दी होकर

चीन पहुँचे और ये न जाने कहाँ रहे। फिर जब चीनी सम्राट् की आज्ञानुसार कुमारजीव ने बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करके चीन में अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली, उस समय (ई० ४०६) विमलाक्ष भी किसी तरह चीन पहुँचे, और अपने पुराने शिष्य से भेंट की। शिष्य ने अपने गुरु का समुचित आदर किया, किन्तु शोक है कि शिष्य अपने गुरु की आँखों के सामने ही इस नश्वर शरीर को त्याग स्वर्ग सिधारा। कुमारजीव की मृत्यु के ५ वर्ष बाद विमलाक्ष ने भी दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद कर चुकने के बाद शरीर त्याग दिया।

यों तो अनुवाद के इस कार्य में कुमारजीव के अनेक सहायक थे, किन्तु उन सहायकों में बुद्धभद्र और पुण्यत्राता दो भारतीय विद्वानों का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बुद्धभद्र शाक्यवंशीय थे और कुमारजीव के चीन पहुँचने के समय वहाँ पहले से मौजूद थे। इन्होंने अनुवाद के कार्य में कुमार-जीव की बहुत सहायता की, और कुमारजीव की मृत्यु के बाद फाहियान के साथ मिलकर महासान्घिक सम्प्रदाय के विनय-ग्रन्थ का अनुवाद किया। कुमारजीव के दूसरे सहयोगी पुण्यत्राता भी विमलाक्ष की तरह से काश्मीर के ही रहने वाले थे। हम नहीं कह सकते कि चीन में यह कब पहुँचे। इतना मालूम होता है कि यह कुमारजीव से पहले नहीं पहुँचे होंगे। आरम्भ में ही यह कुमारजीव से आकृष्ट होकर उनके साथ रहने लगे थे और सर्वास्तिवादियों के विनय के

१० भागों का अनुवाद करने में यह उनके सहायक थे।

कुमारजीव के शिष्यों में बड़ी संख्या चीनी बौद्धों की ही थी। कहा जाता है कि कम-से-कम एक हज़ार चीनी बौद्ध उनके शिष्य थे। प्रसिद्ध यात्री फाहियान कुमारजीव का ही शिष्य था। जिस समय कुमारजीव बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद द्वारा चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार कर रहे थे, उस समय उनका शिष्य फाहियान एक भक्त तीर्थयात्री की भांति भारतवर्ष में अपने तीर्थ-स्थानों की यात्रा कर रहा था! यहां से अनेक धार्मिक ग्रन्थ इकट्ठे करके, जब फ़ाहियान जलमार्ग द्वारा वापिस चीन पहुँचा, तो उस समय उसके गुरु कुमारजीव जीवित थे। उनकी आज्ञा से फाहियान ने बौद्ध देशों के विवरण सहित अपना यात्रा-वृत्तान्त लिखा।

देखा जाय तो कुमारजीव के ही काल में भारत और चीन का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ, क्योंकि इस युग में केवल भारतीय विद्वान् ही चीन में धर्म-प्रचार के लिये नहीं गये, किन्तु अनेक चीनी विद्वान भी भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अध्ययन के लिये भारत आये।

वे दिन भारतीय गौरव के थे, जब हम दूसरों से ज्ञान लेने के बजाय उन्हें ज्ञान देते थे। एक-दो नहीं, लगभग सौ ग्रन्थों का चीनी भाषा में अत्युत्तम अनुवाद करके विशाल-भारत के इस सुपुत्र कुमारजीव ने भारतीय संस्कृति के लिए जो महान उद्योग किया, उसका हम आज स्मरण भी नहीं करते!

आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान

जिनकी तिब्बत-यात्रा के समय विक्रमशिला के सभी भिक्षुओं ने एक मत होकर कहा—"यदि अतिशा भारत से चले गये, तो उनके साथ ही भारत से बौद्धधर्म भी गया समझो।" वह अतिशा कौन थे? उनका पूरा नाम क्या था? वह तिब्बत क्यों गये, और वहाँ जाकर उन्होंने क्या किया?

बज्रासन (बुद्धगया) के पूर्वीय भाग में विक्रममनिपुर नाम के गांव में गौड़-राजवंश में एक बालक का जन्म हुआ। उसके पिता का नाक 'कल्याण श्री' और माता का 'प्रभावती' था। माता-पिता ने बालक का नाम चन्द्रगर्भ रक्खा, और बाल्यावस्था में ही उसे जैतारि नामक एक अवधूत साधु के पास शिक्षा-ग्रहण करने के लिये भेज दिया। इस अवधूत साधू के पास रहकर चन्द्रगर्भ ने पाँचों आरम्भिक विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया, जिसे ग्रहण कर वह दर्शन-शास्त्र के अध्ययन करने का अधिकारी हो गया। सयाने होने पर उसने स्थविरवाद के तीनों 'पिटक', 'वैशेषिक दर्शनशास्त्र', 'माध्यमिक और योगाचार-वाद' तथा इनके साथ चारों प्रकार के तन्त्रशास्त्र का भी ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार जब उनके विद्या-बल की ख्याति बढ़ रही थी, तभी उन्होंने एक बड़े विद्वान ब्राह्मण को शास्त्रार्थ में

जीता। इस समय यदि वह चाहते तो अपने जीवन को सुखपूर्वक बिता सकते थे, किन्तु इस सांसारिक सुख की अपेक्षा अपनी ज्ञान-पिपासा को तृप्ति उन्हें कहीं अधिक अभिष्ट थी। इसलिये वह बौद्ध-योगशास्त्र का विस्तृत अध्ययन करने के लिये कृष्णगिरि विहार में श्रीराहुल-गुप्त के पास पहुँचे। यहाँ उनके गुरु ने उनका नाम गुह्यज्ञानवज्र रक्खा और योगशास्त्र की अनेक गुप्त बातों से परिचित करा दिया। उन्नीस वर्ष की आयु में उन्होंने ओदन्तपुरी (वर्तमान बिहारशरीफ, जि० पटना) के महासांघिक आचार्य श्री शीलरक्षित से प्रव्रज्या ग्रहण की, जिन्होंने उनका पहला नाम बदल कर नया नाम 'दीपङ्कर श्रीज्ञान' रक्खा। इकत्तीस वर्ष की आयु में उन्होंने उपसम्पदा* ग्रहण की, और इसी समय श्री शीलरक्षित ने उनसे बोधिसत्व की प्रतिज्ञा कराई। उन्होंने मगध के दार्शनिकों से दर्शनशास्त्र की शिक्षा प्राप्त कर अन्त में स्वर्णद्वीप (=पेगु, लोअर बर्मा) के सर्वप्रधान स्थविर-आचार्य चन्द्रकीर्ति के पास जाने का निश्चय किया। उस समय स्वर्णद्वीप बौद्धधर्म का सर्वश्रेष्ठ केन्द्र माना जाता था और वहाँ के नायक-स्थविर बौद्धधर्म के सर्वश्रेष्ठ विद्वान्। अनेक कठिनाइयों को पार कर दीपङ्कर समुद्र-मार्ग से स्वर्ण-द्वीप पहुँचे। वहाँ उन्हें बौद्धधर्म

* गृहस्थी से प्रव्रजित होकर पहले 'श्रामणेर' बनता है। पीछे कुछ काल बाद 'उपसम्पदा' प्राप्तकर पूर्णरूप से भिक्षु-धर्म को ग्रहण करता है।

का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये बारह वर्ष ठहरना पड़ा। बारह वर्ष वहाँ रह कर जम्बूद्वीप (=भारत) वापिस आये। मार्ग में कुछ समय के लिये ताम्रपर्णि (=लङ्का) में भी उतरे। मगध पहुँच कर उन्होंने शान्ति, नरोपान्त, कुशल, अवधूत इत्यादि अनेक विद्वानों से भेंट की। मगध के बौद्धों ने उन्हींको अपना सर्वप्रधान आचार्य माना।

वज्रासन (बुद्धगया) में महाबोधि विहार में रहते हुए उन्होंने अनेक भिन्न मतावलम्बियों को तीन बार शास्त्रार्थ में हराया, और इस प्रकार अन्य तमाम मतों से अधिक बौद्धधर्म की श्रेष्ठता सिद्ध की। राजा नयपाल की प्रार्थना पर उन्होंने विक्रमशिला* के विश्वविद्यालय का प्रधान आचार्य होना स्वीकार किया। उसी समय कार्ण्य-देश के राजा ने मगध पर चढ़ाई की। आरम्भ में मगध-नरेश नयपाल को विशेष हानि उठानी पड़ी, किन्तु बाद में समझौता हो गया। इस समझौते के कराने में भी दीपङ्कर का ही हाथ प्रधान था।

'ल्ह-लम-येस्-ए-ह्रोद्' नामक तिब्बत-नरेश बड़े दृढ़ बौद्ध थे। जब उन्होंने देखा कि अनेक कारणों से तिब्बतीय बौद्धधर्म बहुत विकृत हो चला है, तो उन्हें उसे सुधारने का खयाल हुआ। इस कार्य के लिये उन्होंने सात मेधावी बालकों को चुना, और अपनी देख-रेख में उनको शिक्षा का प्रबन्ध किया।

* भागलपुर (बिहार) से २४ मील पूर्व, कहलगाव से ४ मील उत्तर वर्तमान पाथरघाट।

बड़े दान पर उनका भिक्षु-धर्म में प्रवेश कराया गया। उस समय राजा ने प्रत्येक भिक्षु के साथ दो-दो सामणेर नियुक्त करके उनकी संख्या इक्कीस कर दी; और उन्हें भारत इसलिये भेजा, ताकि यहाँ रह कर वे सच्चे बौद्धधर्म का अध्ययन करें, और साथ ही यहाँ से किसी ऐसे विद्वान को, जो तिब्बत में बौद्धधर्म का सुधार करने में विशेष उपयोगी हो सके, निमन्त्रित करके वहाँ ले जाने का प्रयत्न करें। वे अनेक कठिनाइयों को पार करते हुए यहाँ पहुँचे। यहाँ रह कर उन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया, और फिर अपने गुरु की आज्ञा से विक्रमशिला के विश्वविद्यलय में पहुँचे, जहाँ उन्हें दीपङ्कर की ख्याति का पता लगा। उन्हें मालूम हुआ कि पाँच सौ अर्हतों में, जो महासांघिक सम्प्रदाय के हैं, वह दूसरे 'सर्वज्ञ, हैं। उन्होंने इसी समय दीपङ्कर को तिब्बत चलने के लिये निमन्त्रित करना उचित नहीं समझा और लौटकर सब हाल राजा से कहा। राजा की इच्छा हुई कि किसी-न-किसी प्रकार मगध देश के प्रसिद्ध आचार्य दीपङ्कर को तिब्बत अवश्य लाया जाय। इसके लिये उन्होंने 'ग्र्ये-त्सोन्-ग्रु-सेङ्गे' नामक व्यक्ति को एक सौ आदमी और बहुत सा सोना देकर भारत भेजा। अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करके यात्री विक्रमशिला पहुँचा। वहाँ उसने दीपङ्कर के चरणों में बहुत धन रखकर, उनसे तिब्बत चलने के लिये प्रार्थना की। दीपङ्कर बोले—"तुम्हारी बात से मालूम होता है कि तिब्बत

जाने के मेरे दो उद्देश्य हो सकते हैं; एक धन का संग्रह करना, दूसरा सम्मान प्राप्त करना। दोनों में से इस समय मुझे एक की भी कामना नहीं।" और तिब्बत जाने से इनकार कर दिया। आगन्तुक ने बहुत विनय-पूर्वक अपनी सारी कठिनाइयों का वर्णन किया और कहा—"तिब्बत से यहाँ तक आने में हमें बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ा है; हमारे अनेक साथी तो मार्ग में ही मर गये।" आचार्य दीपङ्कर ने उसके साथ सहानुभूति प्रकट की।

तिब्बत लौटकर 'ग्य-त्सोन्-ग्र-सैङ्ग' ने राजा से दीपङ्कर के न आ सकने का कारण और अन्य सब वृत्तान्त निवेदन किया। राजा ने दीपङ्कर का तिब्बत आ सकना असम्भव जान, उसी मनुष्य को फिर आज्ञा दी कि वह इस बार फिर भारत जावे और दीपङ्कर से जो दूसरे नम्बर के विद्वान् हो, उन्हें लाने का प्रयत्न करे। इस बार वह अपने साथ केवल पाँच आदमी और मार्ग-व्यय के लिए थोड़ा धन लेकर विदा हुआ।

(३)

तिब्बत-नरेश के किसी वज़ीर ने नेपाल राज्य के समीप कहीं एक सोने की खान का पता लगाया। राजा कुछ आदमियों को लेकर वहाँ सोना एकत्रा करने के लिए पहुँचा; लेकिन उधर से उनसे भी अधिक संख्या में गर्लोग् राज्य के आदमी आ गये। उन्होंने 'ल्हा-लम' को पकड़ लिया और क़ैद करके अपने

राजा के पास ले गये। राजा ने उसे देखकर कहा—"यह मगध से किसी बौद्ध-पंडित को बुलाकर तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रचार करना चाहता है, इसलिए हम इसको तब तक न छोड़ेंगे, जब तक यह हमारा धर्म स्वीकार न कर ले।"

तिब्बत-नरेश के एक भतीजे का नाम 'छब-छुब' था। जब उसने अपने चचा के इस प्रकार विपत्ति-ग्रस्त होने का समाचार सुना, तो अपने साथ अनेक आदमियों को लेकर उन्हें छुड़ाने के लिये चल पड़ा। गर्लोग् का राजा बड़ा शक्तिशाली था। उससे लड़ाई करना आसान न था, इसलिये उसने विनय आदि करके ही छुड़ाने का प्रयत्न किया। गर्लोग् के राजा ने कहा,— "हम इसको दो शर्तों पर छोड़ सकते हैं, या तो यह हमारा धर्म स्वीकार कर ले, नहीं तो इसके वज़न के बराबर सोना लाकर दिया जाय।" राजकुमार 'छब-छुब' तिब्बत से बहुत सा सोना इकट्ठा करके लाया, किन्तु उस सोने में थोड़ी सी कमी रह जाने के कारण राजा ने तिब्बत-नरेश को छोड़ना स्वीकार नहीं किया। जब तिब्बत-नरेश को यह मालूम हुआ और उनका भतीजा क़ैद में उनसे मिलने गया, तो उन्होंने कहा—"देखो! मालूम होता है, अपने कर्म के दोष से मैं बौद्धधर्म का सुधार नहीं देख सकता। अब मैं मृत्यु के बहुत समीप हूँ। धन देकर मुझे छुड़ाने से कोई लाभ नहीं। शायद इससे पहले मैंने अपने किसी जन्म में धर्म के लिये प्राण नहीं दिया। इस बार मुझे धर्म के लिये मरने दो, और इस

तमाम धन को वापिस ले जाकर तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रसार करने और मगध से किसी विद्वान् पंडित को लाने में खर्च करो। हाँ, यदि कोई आदमी आचार्य दीपङ्कर के पास जाय, तो उन तक मेरी यह विनय पहुँचा दे कि तिब्बत के राजा ने बौद्धधर्म के लिये अपना प्राण दे दिया और आपको अपने देश में देखने की इच्छा को वह अपने साथ ही लेकर मर गया।" 'छ्ञ-छुब' ने रोते रोते अपने चचा के ये वचन सुने और बिदा हुआ। उसके तिब्बत पहुँचते-पहुँचते उसके चचा की मृत्यु हो गई।

चचा के मरने पर राजकुमार 'छ्ञ-छुब' भिक्षु हो गये। उन्होंने राज्य के सब वज़ीरों को इकट्ठा करके कहा—"देखो हमें राजा की मरते समय की इच्छा अवश्य पूरी करनी है। इसलिये आचार्य दीपङ्कर (अतिशा) के पास भेजने के लिये एक अत्यन्त योग्य आदमी की आवश्यकता है।" उस समय 'गुङ् थन्' निवासी 'छुल-ख्रिम्-ग्यल्-वा' के नाम का प्रस्ताव हुआ। वे कई वर्ष तक भारतवर्ष में रहकर संस्कृत का ऊँचा ज्ञान प्राप्त कर चुके थे और आयु अधिक न होने पर भी 'विनय' का बहुत अच्छा ज्ञान रखने के कारण 'विनयधर' नाम से प्रसिद्ध थे। राजकुमार ने इन्हीं को निमन्त्रित किया और दीपङ्कर को लाने के लिये भारत जाने की प्रार्थना की। विनयधर चाहते थे कि उनको बिना किसी विघ्न-बाधा के अपने अध्ययन में ही व्यस्त रहने दिया जाय, इसलिये पहले तो स्वीकार

नहीं किया, किन्तु राजकुमार के बहुत अधिक ज़ोर देने पर तिब्बत में बौद्धधर्म की दुर्दशा का खयाल करके अन्त में राजी हो गये। उन्होंने अपने साथ अधिक आदमी ले जाना अनावश्यक समझा, केवल पाँच आदमी साथ लेकर विक्रमशिला की ओर प्रस्थान किया। मार्ग-व्यय इत्यादि के लिये लगभग तीन तोला सोना साथ ले लिया।

(४)

मार्ग की अनेक कठिनाइयों को पार करते हुए विनयधर ने भारत की सीमा में प्रवेश किया। एक जगह तो वे डाकुओं के ही हाथ में पड़ गये थे, किन्तु अपनी चतुराई से बच निकले। अन्त में चलते-चलते वे गंगा के किनारे पहुँचे। उन्होंने नाविक से गंगा पार उतार देने के लिये कहा। नाविक बोला—"अभी तो मैं तुम्हें पार नहीं ले जा सकता, किन्तु कुछ देर बाद आकर ले जाऊँगा।" विनयधर और उसके साथियों की चिन्ता बढ़ी, 'क्या करें? कहाँ जायँ!' अन्त में वे अपने सोने को रेतमें छिपा, नाविक के वापिस लौटने से निराश हो, विश्राम करने लगे। किन्तु कुछ देर बाद नाववाला नाव लेकर आया। विनयधर ने उसे देखकर कहा—"हम तो समझे थे, अब तुम वापिस नहीं आओगे।" नाविक ने कहा—"कैसे न आता! हमारे देश में क़ानून है, यदि एक बार आपको विश्वास दिलाकर मैं न आऊँ या आपको पार न उतारूँ, तो मुझे राज-दण्ड भोगना

पड़ेगा।"* अन्त में विनयधर और उसके साथियों को गंगा-पार उतारकर उसने कहा—"आप लोग गंगा के किनारे रेत पर या घास पर न सोएँ। यहाँ साँप-बिच्छुओं का डर है। सीधे मठ में चले जायँ और वहीं जाकर विश्राम करें। वहाँ चोर आदि का भी डर नहीं।"

(५)

गंगा के तट पर एक छोटी सी पहाड़ी पर विक्रमशिला विहार था। पहाड़ी पर चढ़ कर विनयधर और उसके साथी विहार के फाटक पर पहुँचे। उस समय फाटक न खुलने के कारण रात उनको विहार के बाहर की धर्मशाला में ही बितानी पड़ी। प्रातःकाल फाटक खुला, और एक लड़के ने बाहर आकर विनयधर और उनके साथियों से उनका पता ठिकाना पूछा। उन्होंने कहा—"हम तिब्बत के लामा हैं और 'ग्य्-त्सन्' से मिलना चाहते हैं।" लड़के ने उनको ग्य्-त्सन् के निवास-स्थान पर पहुँचा दिया। 'ग्य्-त्सन् उस समय एक संस्कृत की हस्त-लिखित पुस्तक देख रहे थे। आगन्तुकों की थोड़ी ही बातचीत से उनकी स्मृति ताज़ी हो गई, और उन्होंने विनयधर को सम्बोधन करके पूछा—"क्या तुम मेरे पुराने शिष्य 'नग्-चो' नहीं हो?' विनयधर और उसके साथियों ने ग्य्-त्सन् को पहचान लिया, और कुछ थोड़ा सोना भेंट-स्वरूप उनके चरणों में रक्खा।

*उस समय मगध देश में महाराज 'नयपाल' शासन करते थे।

ग्य्-त्सन्—"तुम यहाँ विद्या-ग्रहण करने आये हो, अथवा किसी पंडित को लेने ?"

नग्-चो—"श्रीमान् ! हमें तिब्बत-नरेश ने यहाँ से किसी पंडित को ही निमन्त्रित कर ले जाने के लिये भेजा है।"

ग्य्-त्सन्—"किस पंडित को ?"

नग्-चो—'हमें आज्ञा तो है आचार्य दीपङ्कर को ही लाने की, किन्तु यदि वह किसी तरह भी न जा सकें, तो जो उनसे दूसरे नम्बर पर हों, उन्हें। कृपया बतलाइये कि दीपङ्कर से दूसरे दर्जे के विद्वान कौन हैं ?"

ग्य्-त्सन्—"विद्वान पंडितों की यहाँ कमी नहीं; अतिशा के नीचे कई विद्वान पंडित यहाँ मौजूद है—जैसे रत्नकीर्ति, वैरोचन, रक्षित, नेपाल के कनकश्री आदि। किन्तु उनसे हमारे देश का विशेष उपकार नहीं हो सकता। हमारे देश का विशेष उपकार तो 'अतिशा' ही कर सकते हैं। तुम अभी यह किसी से मत कहो कि हम अतिशा को लेने के लिये आये हैं। पहले जाकर स्थविर रत्नाकर के शिष्य हो जाओ। अपने अध्ययन और सेवा-सुश्रूषा से स्थविर रत्नाकर को सतुष्ट करो। उनका यहाँ विशेष प्रभाव है और अतिशा के प्रधान भी वही हैं। समय आनेपर हम तुम्हारी प्रार्थना उन तक पहुँचा देंगे और उनको अपने देश में ले जाने का प्रयत्न करेंगे।"

नग्-चो ने कहा—"कम-से-कम हमें जोवो (=प्रभु) के दर्शन तो करा दें।"

ग्य-त्सन् बोले—"कल यहाँ विक्रमशिला में तमाम भिक्षुओं का बड़ा भारी सम्मेलन होगा, जिसमें लगभग ८००० भिक्षु एकत्र होंगे। उनमें जो सबसे अधिक तेजस्वी, सबसे अधिक पूज्य और आदरणीय प्रतीत हों, उन्हीं को तुम 'अतिशा' समझना। इसके आगे नग-चो ने स्वयं लिखा है:—

"अगले दिन मैं 'ग्य-त्सन्-ग्रु-सेङ्ग' को साथ लेकर स्थविर रत्नाकर की सेवा में उपस्थित हुआ और डेढ़ तोला सोना उनकी भेंट किया। मेरी पढ़ने की इच्छा को सुनकर उन्होंने कहा, 'तुम्हारी अध्ययन करने की इच्छा स्तुत्य है, दृढ़चित्त होकर बौद्धधर्म का स्वाध्याय करो और बौद्धधर्म के ऊँचे विद्वान बन जाओ। मैं इसमें तुम्हारी हर प्रकार से सहायता करूँगा।' इस प्रकार उन्होंने मुझ पर बड़ी अनुकम्पा की।

(६)

"प्रातःकाल का समय था। आठ बजे होंगे। सब भिक्षु इकट्ठे हुए। मुझे बैठने के लिये विक्रमशिला के विद्यार्थियों में एक स्थान दिया गया। सर्वप्रथम सम्मेलन के प्रधान विद्या कोकिल का आगमन हुआ। उनकी आकृति अत्यन्त प्रभावोत्पादक थी। जब वह अपने स्थान पर बैठ गये, तो मैंने अपने समीप वालों से पूछा—'क्या यही अतिशा हैं?' उन्होंने कहा—'आयुष्मन्! क्या तुम नहीं जानते कि ये आचार्य चन्द्रकीर्ति के प्रधान शिष्य विद्याकोकिल हैं, और (प्रभु) अतिशा इनके शिष्य रह चुके हैं।' तब एक दूसरे आचार्य के सम्बन्ध में मैंने

पूछा कि कहीं वह तो अतिशा नहीं! लोगों ने बताया कि वह आचार्य नारोपन्त हैं, जिनकी टक्कर का दूसरा साहित्यिक विद्वान् सारे बौद्ध-संसार में नहीं। मेरी आँखें अतिशा को ही ढूँढ़ रही थीं। इसी बीच में विक्रमशिला के राजा का आगमन हुआ, जिसके लिये साधारण सम्मान प्रदर्शित किया गया। राजा के अपने स्थान पर बैठ जाने पर एक और वृद्ध स्थविर पधारे। जिनके सम्मानार्थ सब श्रामणेर, फिर राजा और बाद में अन्य स्थविर भी खड़े हुए। मैंने समझा कि यही अतिशा होंगे; किन्तु वह वीरव्रज नाम के कोई स्थविर थे, जिनको वहाँ के स्थानीय लोग भी न जानते थे।

"जब सब लोग अपने-अपने स्थान पर बैठ गये, तब जोवो (=प्रभु) अतिशा का आगमन हुआ। उनकी ज्योतिर्मयी मूर्ति को देखते ही मुझे किसी प्रकार का सन्देह न रहा। उनके एक ओर अनेक चाबियों का गुच्छा लटक रहा था। तिब्बती, नैपाली, भारतीय—सब को वह अपने ही देश के प्रतीत होते थे। उनकी आकृति में सरलता और ओजस्विता का कुछ ऐसा संमिश्रण था कि जो कोई उनको देखता, आकृष्ट हो जाता।

(७)

"दूसरे दिन जब मैं विहार से बाहर निकला, तो देखा कि एक पूज्य आचार्य निर्धन भिखमंगों को चावल बाँट रहे हैं। वे जब चावल बाँट कर चलने लगे, तो एक छोटा लड़का

उनके पीछे पीछे हो लिया। लड़का कहता जाता था—'भला हो! ओ नाथ अतिशा। भात होना! भात होना।' प्रसन्नता के मारे मेरी आँखों से आँसू निकल आये और मैं भी उनके पीछे पीछे हो लिया। जब उनकी नज़र मुझ पर पड़ी तो बोले—'ओह! तिब्बती आयुष्मन्। तुम बड़े सच्चे आदमी हो। बड़े दृढ़ हो। मेरे लिये तुमने कौन सा कष्ट नहीं सहा। मेरे दिल में तुम्हारा बहुत आदर है। त्रिरत्न (=बुद्ध, धर्म, संघ) को नमस्कार करो।' मुझे इससे कुछ आशा बँधी।

"इसके बाद एक दिन जब प्रभु अतिशा घर पर अकेले ही थे, तो ग्य-त्सन् मुझे अपने साथ उनके पास ले गये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने नमस्कार इत्यादि करके तिब्बत से लाई गई सोने की डली को उनके चरणों में समर्पित किया, और उसके बाद हमने तिब्बत-निवासियों की कठिनाइयों का विस्तार-पूर्वक वर्णन करके उनसे तिब्बत पधारने की प्रार्थना की। जिसके उत्तर में प्रभु अतिशा ने कहा—'तिब्बत-नरेश एक बोधिसत्व है। उसके तीनों पूर्वज निश्चय ही बड़े पुण्यात्मा थे। 'ल्हालम' और उसके भतीजे ने मेरे लिये क्या नहीं किया है। उन धर्मात्माओं की कामना के विपरीत कार्य करना मेरे लिये किसी तरह उचित नहीं। मेरा तिब्बत पर बड़ा स्नेह है, और तिब्बत जाने के लिये तैय्यार हूँ। किन्तु इस समय मैं वृद्ध हो गया हूँ। मेरे पास बहुत से विहारों की चाबियाँ हैं। मैं इस कार्य को अधूरा नहीं छोड़ सकता। इसलिये तुम अभी कुछ देर यहाँ

ठहरो। मुझे अपने इष्ट देवता से भी पूछना है। अभी तुम अपने इस सोने को भी अपने पास ही रखो।"

(८)

भिन्न-भिन्न रूप में तीन बार अतिशा ने अपने इष्टदेव से तिब्बत जाने के बारे में पूछा। देवता ने प्रत्येक बार उनके तिब्बत जाने की उपयोगिता का समर्थन किया और कहा कि तिब्बत जाने से वहाँ के लोगों का बड़ा उपकार होगा और बौद्ध धर्म का सुधार भी एक बड़ी हद तक हो जायगा। लेकिन साथ ही देवता ने यह भी कहा कि तिब्बत जाने से उनकी आयु में बीस वर्ष की कमी हो जायगी। यदि वह यहाँ रहेंगे तो उनकी आयु ९२ वर्ष की होगी, किन्तु यदि तिब्बत जायँगे तो उन्हें ७२ वर्ष की ही आयु में शरीर छोड़ना होगा।' दीपङ्कर ने सोचा—"यदि मेरा जीवन तिब्बतवासियों के किसी उपयोग में आ सके, तो मुझे अपनी आयु की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। दूसरों के कल्याण की कामना के सामने अपना शरीर बनाये रखने की कामना तुच्छ है।" यह सोचकर उन्होंने अपने मन में तिब्बत जाने का विचार दृढ़ कर लिया। फिर एक रोज़ उन दोनों तिब्बतवासियों को अपने पास बुला कर कहा—"देखो! मेरे इष्ट देवता मेरे तिब्बत जाने के अनुकूल हैं। उनकी स्वीकृति से और तुम्हारे ज़ोर देने से मैंने तिब्बत जाने का निश्चय कर लिया है। हाथ में जो कार्य है, उसे समाप्त करने में मुझे कोई अठारह महीने लग जायँगे। नया कार्य अब मैं हाथ में न लूँगा।

इसलिये तुम्हें कोई डेढ़ वर्ष तो अभी प्रतीक्षा करनी होगी। इस काल में तुम दृढ़चित्त होकर अपना स्वाध्याय जारी रक्खो।" उन्होंने कहा—"हम डेढ़ वर्ष तो क्या, तीन वर्ष ठहर सकते हैं।" दीपङ्कर बोले—"अच्छा ! यदि ऐसी बात है, तो इस मामले को गुप्त रक्खो और मन लगाकर अपना पढ़ना जारी रक्खो।" नग्-चो ने स्थविर रत्नाकर सा गुरु और ग्य-त्सन् सा अनुवादक पाकर इस सुअवसर से पूरा लाभ उठाया, उन दिनों विक्रमशिला में 'सुधा-विन्दु' नाम का एक विशेष ग्रन्थ पढ़ाया जाता था। तिब्बत में इसे बहुत कम लोग जानते थे। नग्-चो ने तिब्बती भाषा में इसका अनुवाद किया।

एक दिन नग्-चो और ग्य-त्सन् दोनों स्थविर रत्नाकर के मकान पर आये, ताकि आचार्य दीपङ्कर के तिब्बत जाने के सम्बन्ध में उनका विचार जानें। उस समय स्थविर रत्नाकर ने कहा—"आयुष्मन् ! दीपंकर की अनुपस्थिति में किसी दूसरे पंडित में इतनी सामर्थ्य नहीं कि यहाँ के कार्य को भली प्रकार चला सके। भारतवर्ष बौद्ध-धर्म की जन्मभूमि है, और अगर दीपंकर यहाँ से चले गये, तो यहाँ के लोगों की बड़ी हानि होगी। दीपङ्कर के हाथ में मगध के अनेक विहारों की चाबियाँ हैं। इसलिये उनका यहाँ से जाना अत्यन्त कठिन है। यदि तुम यहाँ रहकर परिश्रम से अध्ययन करो, तो कुछ काल के बाद तुम स्वयं इस योग्य हो सकते हो कि अपने देश का बड़ा उपकार कर सको।"

(९)

तिब्बत जाने का विचार निश्चित कर एक दिन दीपङ्कर ने अपने आचार्य रत्नाकर से प्रार्थना की—"हे गुरुदेव ! इन तिब्बत से आये हुए आगन्तुकों को तमाम पूज्य स्थानों के दर्शन करा देना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये आप आज्ञा दें कि इनको साथ लेकर मैं बुद्धगया आदि स्थानों की यात्रा कर आऊँ।" गुरुदेव ने भी साथ चलने की इच्छा प्रकट की। सभी लोग कुछ दिनों में यह यात्रा समाप्त कर लौट आये। विक्रमशिला पहुँचते ही दीपङ्कर ने अपने गुरु से नेपाल जाकर 'स्वयम्भू चैत्य' की पूजा करने की आज्ञा माँगी। इससे आचार्य रत्नाकर को दीपङ्कर की तिब्बत जाने की इच्छा का पता लग गया। उन्होंने नग्-चो को बुलाकर कहा—"मुझे अब पता लगा कि तुम यहाँ वास्तव में विद्या पढ़ने के लिये नहीं आये थे। तुम्हें तिब्बत-नरेश ने यहाँ से मेरे आदमियों को ले आने के लिए भेजा है। पहले भी उसने दीपङ्कर को ले आने के लिये आदमी भेजे थे, किन्तु मैंने उन्हें जाने नहीं दिया। अब भी मैं उन्हें रोक सकता हूँ, किन्तु देखता हूँ, अब वह स्वयं जाने को राज़ी हैं। मेरे लिये उनके परोपकार करने के मार्ग में बाधा डालना भी उचित नहीं है, इसलिये जाने देता हूँ। लेकिन देखो ! अधिक से अधिक तीन वर्ष तक अपने देश में रख कर उन्हें वापिस ले आना।" नग्-चो ने स्वीकार किया। अब दीपङ्कर ने वह सोना मँगाया, जो पहले लौटा

दिया था। उसके चार भाग करके पहला भाग विक्रमशिला के आचार्यों की सेवा में, दूसरा भाग आचार्य रत्नाकर की सेवा में, और इसी तरह बाकी दो भाग भी अर्पण कर दिये। अपने लिये कुछ नहीं रक्खा।

(१०)

प्रातःकाल का समय था। तिब्बत जाने की सब तैय्यारी हो चुकी थी। नग्-चो अपने गुरु से विदा माँगने के लिये गया। उसने आचार्य रत्नाकर के चरणों में सिर रख कर कहा—"प्रभु! मुझ पर सदैव अपनी कृपा बनाये रखियेगा। अब मैं विदा होना चाहता हूँ। मुझे आशीर्वाद दीजिये।" स्थविर रत्नाकर ने कहा—"अच्छा, जैसे कहा है उसके अनुसार चलना। मेरे पंडित को तीन साल के बाद लौटा लाना। मेरी कामना है कि तुम दोनों सकुशल वापिस आओ।" तब नग्-चो ने प्रार्थना की—"प्रभु! मुझे पंडित को आज्ञानुसार आचरण करने की छुट्टी दीजिए। उनकी आज्ञा के प्रतिकूल मैं कुछ भी नहीं करूँगा।" आचार्य रत्नाकर बोले—"बिलकुल ठीक! तुम उन्हें वापिस आने के लिये कैसे कह सकते हो? अच्छा! यदि वह वहाँ रहना चाहें, तो वहाँ उनकी सेवा करना। यदि यहां आना चाहें, तो यहाँ उनके साथ आना। आयुष्मन्, बिना दीपङ्कर के भारत में अँधेरा हो जायगा। उसकी अनुपस्थिति में अनेक विहारों में ताले पड़ जायँगे। अब भारत के दिन अच्छे नजर नहीं आते। मुसलमानों

के अनेक आक्रमण हो रहे हैं। इससे मैं बहुत घबरा रहा हूँ। अच्छा! तुम सब तिब्बत के कल्याण के लिये विदा होओ।"

पंडित भूमिगर्भ, नग्-चो, ग्य-त्सन्, वीर्यचन्द्र और अनेक दूसरे साथियों के साथ दीपङ्कर 'मित्र-विहार' की ओर चल पड़े। वहाँ के भिक्षुओं ने बड़े उत्साह-पूर्वक उनका स्वागत किया। यहाँ से ग्य-त्सन्,नग्-चो, दीपङ्कर और उनके सभी साथियों ने तिब्बत की ओर प्रस्थान किया। चलते-चलते भारत की सीमा पार करके वह एक ऐसे स्थान पर पहुँचे, जहाँ अनेक तैर्थिक (= अन्य मतावलम्बी) साधु रहते थे। तैर्थिकों में शैव, वैष्णव और कापिल सभी शामिल थे। शैवों के हृदय में बौद्धधर्म के प्रति सबसे अधिक डाह थी। वह नहीं चाहते थे कि तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रचार हो। कहते हैं कि उन्होंने दीपङ्कर और उनके साथियों को मार्ग में लूटने के लिये अठारह डाकुओं को भेजा था, किन्तु डाकू ज्योंही दीपङ्कर के समीप आये, उनकी शकल देखते ही बुत की तरह खड़े हो गये। दीपङ्कर ने उनके लिये अनुकम्पा की भावना की।

मार्ग में एक जगह दीपङ्कर ने कुतिया के तीन पिल्लों को देखा। वे सर्दी के मारे बड़ा कष्ट भोग रहे थे। उन्होंने तीनों को उठाकर अपने चीवर से ढाँप लिया। कहते हैं कि इन कुत्ते के पिल्लों की सन्तान इस समय भी रद्‌ग् में विद्यमान है।

इस प्रकार चलते-चलते सब लोग 'स्वयम्भू चैत्य' के समीप पहुँचे। यहाँ पहुँच कर सब लोगों ने कुछ काल विश्राम किया। पशुओं पर से उनका बोझा उतार दिया गया। तमाम सामान एक जगह रखकर उसके चारों ओर एक दीवार-सी खड़ी कर दी गई। 'स्वयम्भू चैत्य' के सुन्दर दृश्य ने दीपङ्कर को मुग्ध कर लिया। वे देर तक लगातार उसी की ओर देखते रहे। 'स्वयम्भू-चैत्य' के राजा को जब उनके आगमन की खबर लगी, तो उसने उनके सत्कार का बड़ा शानदार प्रबन्ध किया। अपने बड़े-बड़े अफसरों को उनकी अगवानी के लिये भेजा। तमाम नगर सजाया गया। महलों में स्वयं राजा सदैव उनके साथ रहा। इस प्रकार मगध के आचार्य का जैसा चाहिये था वैसा स्वागत हुआ। तीसरे दिन 'स्वयम्भू-चैत्य' के राजा की कुशलता के लिये एक बड़ी भारी पूजा की गई।

ग्य-त्सन् पहले भी एक बार श्री नालन्दा में बीमार पड़ गये थे। उस समय उन्हें डोली पर विक्रमशिला लाया गया था। इस समय फिर उन्हें उसी ज्वर ने आ घेरा। कई दिन बीमार रहे। इलाज-उपचार सब किये गये। कोई लाभ न हुआ। अन्त में उनका शरीर छूट गया। ग्य-सन् की मृत्यु से दीपङ्कर बड़े दुःखी हुए। वह कहने लगे—"अब मेरे तिब्बत जाने का कुछ अधिक लाभ नहीं है, जब कि जिह्वा (=अनुवादक) ही जाती रही।" उनको दुःखी देख नग्-चो उन्हें सान्त्वना देने लगा। वह बोला—"गुरुवर! अधीर मत

होइये। तिब्बत में अनेक विद्वान् अनुवादक हैं। और मैं स्वयं भी कुछ अनुवाद कर लेता हूँ।" दीपङ्कर ने उसे समझाया—"देखो! छोटों को यह उचित नहीं कि वह बड़ों को उपदेश भरी सान्त्वना दें। हमारे देश में पंडितों को केवल योगी ही सान्त्वना दे सकते हैं।"

यहाँ से चल कर वह 'पल्-पोइ-थन्' नामक स्थान पर पहुँचे। उस समय नेपाल के राजा अनन्तकीर्ति का दरबार उसी जगह लगता था। उन्होंने दीपङ्कर का स्वागत बड़े समारोह से किया। यहाँ पर एक विहार बनवाया, और अपने पुत्र पद्मप्रभु को भिक्षु बनने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार पद्मप्रभु पहले भिक्षु हुए, जिन्होंने दीपङ्कर के भारत छोड़ने के बाद, उनसे प्रव्रज्या ग्रहण की।

आखिर तिब्बत की सीमा आ गई। तिब्बत की सीमा में प्रवेश करते ही उन्होंने देखा कि उनके स्वागत के लिये १०० घुड़-सवार आये हैं। ये सब घुड़-सवार चार सेनापतियों के आधीन थे। सभी की वर्दियाँ सफेद थीं। साज-सामान भी सफेद ही रंग का था। बाजे के स्वर में 'ॐ मणि पद्मेहुम्' पवित्र मंत्र का उच्चारण करते हुए सब लोग मगध के प्रधान आचार्य का स्वागत करने के लिये आगे बढ़े। तिब्बत-नरेश के प्रतिनिधि नरि-त्सो-सुम्-पने ढाई छटाँक सोना चरणों में रखकर और खास ढंग की बनी हुई तिब्बती चाय का एक प्याला पेश करके इनकी पूजा की। फिर प्रधान सेनापति ने दीपङ्कर का

स्वागत-गान ठीक उसी तरह गाया, जैसा कि इस समय से तीन शताब्दी पूर्व आचार्य शान्तरक्षित के आगमन के समय गाया गया था। प्रधान नायक ने दीपङ्कर को सम्बोधित करके कहा—"भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ पंडित ! इस देश में आपका आगमन किसी देवता के आगमन से कम नहीं। हम पर आपकी अनुकम्पा हुई है। तमाम तिब्बत आपका अत्यन्त अनुगृहीत है। आप तिब्बत के लिये 'चिन्तामणि' के सदृश हैं। इसमें सन्देह नहीं कि तिब्बत में भारत के समान धर्म-प्रचार नहीं, और यहाँ इसकी आवश्यकता है, लेकिन तिब्बत की भी अपनी विशेषताएँ हैं। गर्मी में यहाँ भारत की सी कड़ी गर्मी नहीं होती। सर्दी के मौसम में भी पहाड़ों की छाया में पर्याप्त गर्मी रहती है। दूसरी ऋतुओं में यहाँ खाने-पीने के लिये खूब होता है। अनेक प्रकार की सब्जी होती है। इस प्रकार से हे महामान्य ! यह देश हर प्रकार से समृद्ध है, और अब आपके आगमन से यह और भी अधिक समृद्ध हो जायगा। हम तिब्बत-निवासी हर प्रकार से आपकी आज्ञा का पालन करेंगे, और आपकी आज्ञानुसार सर्वस्व तक न्योछावर करने के लिये तैय्यार रहेंगे।

"इस समय आप हमारी प्रार्थना स्वीकार कर 'थोलिङ्-विहार' में पधारने की अनुकम्पा करें। यह राजा का अपना विहार है। राजा 'ल्ह-त्सुम्-प-चज्-चुव्-होद' बड़ा शक्तिशाली राजा है। वह अपने वजीरों की सहायता से इन्द्र की भाँति पृथ्वी

पर राज्य करता है।" इतना कहकर उसने तिब्बती भाषा में एक प्रसिद्ध स्वागत-गान गया। इस प्रकार गाते-बजाते सब लोग 'थोलिङ' की ओर बढ़ने लगे। इस प्रकार दीपङ्कर के साथ राजा भूमिसिंह, पंडित परहित-भद्र, पंडित वीर्यचन्द्र इत्यादि कुल ३५ आदमी थे। जिस घोड़े पर दीपङ्कर चढ़े जा रहे थे, उस घोड़े की चाल हंस के समान थी। कभी-कभी दीपङ्कर अपने योग-बल से अपने को घोड़े की पीठ से कुछ ऊँचा उठा लेते थे, ताकि लोग उनको आसानी से पहचान सकें। प्रायः हर समय कोई न कोई संस्कृत-मन्त्र उनकी जिह्वा पर रहता था, और मन्त्र के अन्त में वह प्रायः कहते थे—भला हो! भला हो! मङ्गल हो, इत्यादि।

इस प्रकार जब वह 'आथिङ्' विहार के समीप पहुँचे, तो प्रजा के मन्त्रियों ने हाथ जोड़कर उनका स्वागत किया। वे बोले—"हे प्रभु! हम पर आपकी महान अनुकम्पा हुई है। केवल हमारे कल्याणार्थ आपने मार्ग का इतना कष्ट सहा है। हम आपकी आज्ञा में हैं।" यह कहते हुए अवलोकितेश्वर का एक अति मूल्यवान चित्र आपको समर्पित किया। दीपङ्कर ने उसी समय उसकी प्रतिष्ठा कर दी।

अब सब लोग लिन्-सेर्-ग्यी-ल-खङ् नामक थोलिङ् (विहार) पर पहुँच गये। यहाँ चार बड़े अफसरों के आधीन सौ घुड़-सवारों की पलटन दीपङ्कर के स्वागत के लिये और उन्हें राज-महल तक ले जाने के लिये उपस्थित थी। उन बाजों

में जो इस समय बजाये जा रहे थे, एक बाजा ऐसा था जिसको इसी अवसर के लिये विशेष रूप से राजा ने स्वयं बनवाया था। उस बाजे का नाम राजा के नाम पर ही था।

इस प्रकार राजा ने दिल खोल कर दीपङ्कर का स्वागत किया। यह देख कि दीपङ्कर विद्या और विनय दोनों में सर्व श्रेष्ठ पंडित हैं, उसने उनका नाम जोब-जे (= प्रभु वा स्वामी) रक्खा। 'थोलिङ्' पहुँच कर दीपङ्कर ने धर्म-प्रचार आरम्भ किया। उन्होंने एक बार तिब्बत में प्रचलित बौद्ध-धर्म को—जो अनेक कारणों से बहुत विकृत हो गया था—बिलकुल शुद्ध कर दिया। दीपङ्कर तिब्बत के भिन्न-भिन्न स्थानों में लगभग १३ वर्ष तक लगातार प्रचार-कार्य करते रहे, और अन्त में १०५३ में—जिस समय उनकी आयु ७३ वर्ष की थी—ल्हासा के समीप 'ने थन्' नामक स्थान में उनका शरीर छूटा।

तिब्बत में रहकर दीपङ्कर ने अनेक ग्रन्थों की रचना की, और महायान बौद्धधर्म के सम्बन्ध में अनेक व्याख्यान दिये। उनके रचित ग्रन्थों में कुछ ये हैं:—

१ बोधिपथ-प्रदीप, २ चर्य्यासंग्रह-प्रदीप, ३ सत्यव्यवहार, ४ मध्यमोपदेश, ५ संग्रह-गर्भ, ६ बोधिसत्त्व-मन्यावलि, ७ हृदय-निश्चित, ८ बोधिसत्त्वकर्मादि मार्गावतार, ९ शरणागतादेश, १० महायान पथ-साधन वर्ण-संग्रह, ११ महायान पथ साधन-संग्रह, १२ सूत्र रथ समुच्चयोपदेश, १३ दशकुशल कर्मोपदेश,

१४ कर्मविभङ्ग, १५ सन्धिसंवर परिवर्त, १६ लोकोत्तर सप्तक-विधि, १७ गुरु क्रिया-कर्म, १८ चित्तोत्पाद संवर-विधिकर्म, १९ शिक्षा समुच्चयाभि समय, २० विमलरत्न-लेखन (यह पुस्तक मगध के राजा नयपाल के नाम लिखा हुआ दीपङ्कर का एक पत्र है।)

इस समय जहाँ-जहाँ तिब्बतीय बौद्ध-धर्म का प्रचार है, हर जगह उनका नाम अत्यन्त सम्मान से लिया जाता है।

संघराज शरणङ्कर

यदि पूछा जाय कि लंका के वर्तमान इतिहास में सबसे बड़ा महापुरुष कौन हुआ है ? तो इस प्रश्न का उत्तर यही दिया जा सकता है कि संघराज-शरणङ्कर । वर्तमान लंका ने संघराज शरणङ्कर से बढ़कर पूज्य तथा गौरवशाली दूसरा कोई पुत्र-रत्न पैदा नहीं किया ।

कैन्डी नगर लंका की राजधानी है। इस नगर से कोई १५ मील दूर तुम्-पन जिले के वैलिविट ग्राम में सन् १६८९ के पौष मास के कृष्ण-पक्ष की सप्तमी के दिन बालक शरणङ्कर का जन्म हुआ था। उसके पिता मुदलियर* थे, और बड़े भाई मुदियंसे* के नाम से प्रसिद्ध थे। यदि शरणंकर भी साधारण बालक होता, तो वह अपने परिवार के अन्य लोगों की भाँति भी किसी-न-किसी सरकारी धन्धे में लग जाता। उन दिनों देश की जैसी अवस्था थी, उसे देखते हुए यह अधिक सम्भव भी था, लेकिन यदि देश के दुर्भाग्य से कहीं ऐसा हुआ तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि आज लंकावासियों का धर्म बौद्ध धर्म न होकर कुछ और ही होता।

* 'मुदलियर' और 'मुदियंसे' दो सिंहाली राजकीय उपाधियां हैं।

कई पीढ़ियों से भिक्षु-संघ का ह्रास होते-होते उसकी दशा इतनी खराब थी कि राजा विमलधर द्वितीय के समय लंका में पाँच उपसम्पन्न भिक्षुओं का मिलना भी कठिन हो गया। राजा विमलधर ने दूत भेजकर बर्मा के अरकान राज्य से कुछ भिक्षुओं को बुलवाया और अपनी संरक्षता में ऊँचे-ऊँचे कुलों के लगभग एक सौ श्रामणेरों की उपसम्पदा कराई। कुछ दिनों के लिए देश में धार्मिक उत्साह बढ़ने लगा, परन्तु विमलधर द्वितीय का पुत्र उतना योग्य न निकला। उसने अपने पिता की समस्त कृति पर पानी फेर दिया। उसके राज्य में भिक्षुओं की दशा फिर एक बार पहले की सी हो गई। गृहस्थों में जो बौद्धधर्म का ज्ञान फैलने लगा था, वह रुक गया। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि राजा विमलधर ने जिन एक सौ भिक्षुओं की उपसम्पदा कराई थी, उनमें से एक सूर्यगोड-स्थविर के पास सोलह वर्ष के बालक शरणङ्कर ने अपनी प्रव्रज्या ग्रहण की।

संघ में प्रविष्ट होते ही शरणङ्कर ने देखा कि संघ अन्दर से बिलकुल खोखला हो गया है। जिन लोगों पर—भिक्षुओं पर— धर्म की रक्षा का भार है, वे पड़े-पड़े चैन की बंसी बजाते हैं। भिक्षुओं और गृहस्थों में केवल रंगे कपड़े का भेद है। न तो गृहस्थ भिक्षुओं की आवश्यकता ही पूरी करते हैं, और न भिक्षु उनसे किसी प्रकार की आशा ही रखते हैं। यह देख कर शरणङ्कर को दुःख हुआ, परन्तु वह हताश

नहीं हुआ। उसने एक वीर की भाँति संघ को सुधारने का निश्चय किया। पचास वर्ष से अधिक समय तक शरणङ्कर इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए कार्य करता रहा। अन्त में हजारों बाधाओं का सामना कर चुकने पर उसे सफलता मिली। शरणङ्कर बड़ा उत्साही पुरुष था, लेकिन इस महान् कार्य की सिद्धि के लिए उत्साह के अतिरिक्त और भी बहुत से गुणों की आवश्यकता थी। शरणङ्कर ने देखा कि सब से पहली आवश्यकता 'ज्ञान-संचय' है। बस, वह इसी के लिए जुट पड़ा। भिक्षुओं मे उस समय शिक्षा के विषय मे इतनी लापरवाही थी कि श्रामणेर शरणङ्कर को पाली-व्याकरण तक पढ़ाने के लिए कोई न मिलता था। पर शरणङ्कर ने हिम्मत न हारी। वह बराबर पाली-व्याकरण पढ़ने के लिए गुरु की खोज करता रहा। उसे पता लगा कि 'लुवके रालहामी' नाम के एक सज्जन को पाली-व्याकरण का कुछ ज्ञान है। लेकिन वह उन दिनों किसी राजकीय अपराध के कारण नजर-बन्द था। शरणङ्कर ने इसी सज्जन से पाली व्याकरण पढ़ने की ठानी, परन्तु नजरबन्द आदमी से सम्बन्ध कैसे जोड़ा जाय? 'लुवके रालहामी' अपने गाँव के पास के एक विहार मे प्रतिदिन पूजा के लिये जाया करता था। विहार के पास ही एक गुफा थी। शरणङ्कर अपने एक साथी को लेकर उस गुफा में जा छिपा, और जिस समय वह 'लुवके रालहामी' पूजा करने के लिए आया, शरणङ्कर ने गुफा से बाहर निकल कर उससे मुलाकात की।

शरणङ्कर का अभिप्राय जानकर क़ैदी बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने शरणङ्कर को पाली-व्याकरण पढ़ाना स्वीकार कर लिया। क़ैदी का पाली व्याकरण का अपना ज्ञान भी कुछ अधिक न था। शरणङ्कर ने क़ैदी से व्याकरण के 'सुवन्त' प्रकरण के अतिरिक्त 'सतिपट्ठान सुत्त' सीखना और अध्ययन करना आरम्भ किया। क़ैदी से शरणङ्कर जो कुछ पढ़ता था, वही वह प्रतिदिन अपने साथी को पढ़ाता था। इसी प्रकार कुछ दिन तक पढ़ने-पढ़ाने के बाद शरणङ्कर ने एक नये गुरू की खोज की। उसने 'अत्थदस्सी' नामक एक स्थविर के पास पढ़ना आरम्भ किया। इस वृद्ध संन्यासी के पास भी शरणङ्कर को सिखाने योग्य कुछ अधिक न था। शरणङ्कर ने स्वाध्याय का आश्रय लिया और अपने अविश्रान्त परिश्रम से उसने थोड़े ही काल में पाली, सिंहालो और संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। आजकल लंका-द्वीप में प्राचीन भाषाओं के शिक्षण का जो इतना प्रचार है, उसका श्रीगणेश इसी महापुरुष ने किया था।

'ज्ञान-प्राप्ति' ने शरणङ्कर के निश्चयों को और भी दृढ़ कर दिया। अब उसने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए निश्चितरूप से कुछ-न-कुछ ठोस कार्य करना आवश्यक समझा। 'सिटिना-मलुवे' आदि तीन शिष्यों को लेकर सप्त-कोरले जिले के रिदि (–रजत) विहार को अपना केन्द्र बनाया। सप्त-कोरले जिले में और उसके बाहर उसने धर्म-प्रचार और शिक्षा-प्रचार का कार्य आरम्भ किया। अन्य भिक्षुओं के आराम-तलब जीवन

के विरुद्ध उसने अपने और अपने साथियों के जीवन को तपस्या का आदर्श बनाया। अपने लिए तो उसने यह नियम बना लिया था कि सिवा उस भोजन के जो लोग उसके भिक्षाटन के समय उसके पात्र में डाल दें, वह और किसी चीज़ को ग्रहण न करेगा। उसने अपने इस व्रत को आजीवन निभाया। शरणङ्कर और उनके साथियों के प्रचार से लोगों की आँखें खुलीं। अनेक उत्साही लोगों ने शरणङ्कर के हाथ से दीक्षा ग्रहण करनी चाही। स्वयं अनुपसम्पन्न होने के कारण वह औरों को प्रव्रजित न कर सकता था। उसने 'शील-वत्' नाम से एक नया संगठन आरम्भ किया। 'शीलवतों' में और साधारण प्रव्रजित श्रामणेरों में केवल इतना भेद था कि 'शीलवत्' अपने को केवल दस शीलों के लिए ही ज़िम्मेदार समझते थे, वर्ना वह साधारण श्रामणेरों की तरह ही सिर मुँडाते और पीले वस्त्र पहनते थे। उनका तपस्यामय जीवन अपने आचार्य के समान था।

शरणङ्कर के प्रभाव से कैन्डी के मठाधीशों का आसन डोल उठा। उन्होंने देखा कि अनेक लोग उनका शिष्यत्व छोड़-छाड़कर शरणङ्कर की शरण लेने लगे। यह देख कर उनसे न रहा गया। उन्होंने राजा को उसकाना आरम्भ किया। इधर शरणङ्कर भी झुकनेवाला पुरुष न था। उसने अपने कार्य की गति तीव्र कर दी। शरणङ्कर के शिष्यों ने मठाधीशों का 'बड़प्पन' स्वीकार करने से इनकार कर दिया। यहाँ तक

कि उनका आतिथ्य करने में भी वे अपनी हेठी समझने लगे। दोनों ओर से तनातनो शुरू हुई। धार्मिक गद्दियों के मालिकों का राज-दरबार में अच्छा प्रभाव था। उन्होंने शरणङ्कर और उसके साथियों के विरुद्ध अदालत की शरण ली। मुकद्दमा चला। न्यायाधीशों ने न्याय का पक्ष न लेकर मठाधीशों का पक्ष लिया। 'शीलवतों' को आज्ञा हुई कि वे अपने सिर पर कपड़ा बाँधें और श्रामणेरों का आदर किया करें। न्याय के इस 'नाटक' में शरणङ्कर की हार हुई सही, लेकिन उसके उत्साह में किसी प्रकार कमी नहीं आई। उसने फिर द्विगुण उत्साह के साथ अपना कार्य आरम्भ कर दिया। इसी समय एक ऐसी घटना हुई, जिससे विरोधियों का सब विरोध मट्टी में मिल गया और लोगों ने समझ लिया कि बुद्धधर्म का सर्वश्रेष्ठ प्रचारक यदि कोई है, तो शरणङ्कर है।

समाचार फैला कि विदेश से एक उपसम्पन्न भिक्षु लंका में आया है। राजा ने बड़े सत्कार से उसे बुला भेजा, लेकिन जब वह राज-दरबार में आया, तो पता लगा कि वह एक हिन्दू-संन्यासी है। राजा ने इस संस्कृतज्ञ संन्यासी पर प्रभाव जमाने के लिए उसकी उपस्थिति में एक धार्मिक प्रवचन का प्रबन्ध किया। कैन्डी के प्रधान नायकों को निमन्त्रित किया। आगन्तुक की उपस्थिति में धर्मोपदेश देने का किसी को साहस न हुआ। राजा को शरणङ्कर की याद दिलाई गई। 'बौद्धधर्म' के नाम को कलंक से बचाने

के लिए राजा ने शरणङ्कर के पास निमन्त्रण भेजा, जिसे उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया। उस समय लोगों के आश्चर्य की सीमा न रही, जब उन्होंने देखा कि शरणङ्कर ने नियत-समय पर धर्मासन पर बैठ पहले पाली सूत्र का पाठ किया, फिर सिंहल परिवर्तन किया और उसके बाद आगन्तुक के लिए संस्कृत में ऐसे सुन्दर ढंग से व्याख्या की कि संन्यासी प्रसन्न हो गया। तीनों भाषाओं पर शरणङ्कर का समान अधिकार और उसके साथ धार्मिक ज्ञान देख राजा बड़ा सन्तुष्ट हुआ। विरोधियों का विरोध सदा के लिए ढीला पड़ गया। उस समय शरणङ्कर की आयु तीस वर्ष की थी।

अब तो दिन प्रतिदिन शरणङ्कर की शक्ति बढ़ने लगी। अनेक लोग उनके अनुयायी हो चले। इस समय शरणङ्कर का मुख्य ध्यान देश को शिक्षित करने की ओर था। पुस्तकों के अभाव में यह कार्य कैसे हो? शरणङ्कर ने अपनी देख रेख में सभी आवश्यक पुस्तकों की नक़ल करानी शुरू की। इस समय लंका में जो हस्त-लिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें से अधिकांश शरणङ्कर की इस योजना के ही फल हैं।

शिष्यों की संख्या अधिक हो जाने से उसका बहुत सा समय शिष्यों की शिक्षा-दीक्षा में ही व्यय होने लगा। फिर भी उसने धर्म-प्रचार के कार्य में कमी न होने दी। जहाँ-जहाँ वह अथवा उसके शिष्य गये, वहाँ वहाँ के लोग एक बार फिर नये सिरे से समझने लगे कि उनका देश 'बौद्ध देश' है।

उसके सामने अनेक बाधाएँ थीं, लेकिन शरणङ्कर ने उन्हें एक हद तक पार कर लिया था। इस समय वह बौद्ध धर्म के सबसे बड़े विद्वान् और प्रधान नेता थे। राजा और प्रजा—दोनों उनके पक्ष में थे और मुकाबले पर कोई न था। यदि शरणङ्कर केवल महत्वाकांक्षा का पुजारी ही होता, तो अब उसे कुछ करने-धरने की जरूरत न थी, लेकिन शरणङ्कर तो लंका में बौद्ध-संघ की स्थापना करके ही चैन लेना चाहता था। लंका में उस समय उपसम्पदा संस्कार करने के लिए पाँच भिक्षु मिलने कठिन थे। किस अन्य देश से 'उपसम्पदा' लाई जाय, इस विषय में किसी को कुछ मालूम न था। पहले बर्मा और स्याम के साथ लंका का अच्छा सम्बन्ध था, लेकिन पुर्तगीजों और डचों के आक्रमणों के समय यह सम्बन्ध टूट गया। अब स्याम और बर्मा की राजनैतिक तथा धार्मिक दशा के विषय में किसी को कुछ मालूम न था। अंधेरे में मार्ग बनाने का कार्य था। शरणङ्कर ने अपने शेष जीवन को इसी कार्य में लगाया और उसे सफल करके दिखा दिया।

शरणङ्कर ने सब से पहले डच-गवर्मेन्ट से सहायता की याचना की। डच गवर्नमेंट की ओर से एक दूत स्याम भेजा गया, परन्तु वह जाकर लौट आया। यह धार्मिक कार्य एक डच दूत के हाथों होने को न था। सिंहल-नरेश श्री वीरपराक्रम का ध्यान आकृष्ट करने के लिए उसने 'सद्धर्म सारार्थ संग्रह'

नामक पुस्तक लिखकर राजा को भेंट की। राजा ने प्रसन्न होकर उसे एक हाथी भेंट करना चाहा। परन्तु शरणङ्कर को हाथी से क्या काम ? उसने इनकार कर दिया। शरणङ्कर चाहते थे कि राजा विदेश से 'उपसम्पदा' लाने में उनकी सहायता करे। राजा शरणङ्कर की विशाल योजना के अनुसार तो कार्य न कर सका। हाँ, उसने इतना अवश्य किया कि 'नियमकोड़' में एक कालेज स्थापित कर शरणङ्कर को उसका प्रधानाचार्य बना दिया। शरणङ्कर वहाँ कई वर्ष रहे।

श्री बीरपराक्रम की मृत्यु के बाद श्री त्रिजयसिंह सिंहासनारूढ़ हुए। उनके राज्यकाल में विदेश से 'उपसम्पदा' लाने का प्रयत्न किया गया। पाँच 'शीलव्रतों' को पुनः गृहस्थियों के वस्त्र पहना कर दो राजदूतों के साथ स्याम भेजा गया। मार्ग में जहाज़ टूट गया। जहाज़ के यात्रियों में से कई लोग मर गये। जो बचे वे बड़ी कठिनाई से हंसवती (पेगु) पहुँचे। वहाँ उन्हें चोरों के हाथों घायल होना पड़ा। इन सारी मुसीबतों को पार करके दो सज्जन किसी-न-किसी प्रकार लंका वापस पहुँच सके। इन्हीं से यह सारी विपत-कहानी मालूम हुई। इस प्रयत्न के विफल हो जाने से स्वभावतः ही शरणङ्कर को बड़ा दुःख हुआ, लेकिन वह महापुरुष प्रथम प्रयत्न की विफलता से ही निराश होने वाला न था।

एक बार फिर राजा की ओर से तीन राज-दरबारियों और

शरणङ्कर के पाँच शिष्यों का एक दल स्याम भेजा गया। जाते समय मार्ग में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हुई। स्याम-नरेश ने दल का स्वागत किया और स्वीकार किया स्यामी उपसम्पन्न भिक्षुओं को लंका भेजना। इसी बीच में लंका के श्री विजयराज सिंह की मृत्यु का समाचार पहुँचा। स्याम नरेश ने स्यामी भिक्षुओं को भेजने का विचार छोड़ दिया, और कहा कि जब तक इस सम्बन्ध में नये राजा का विचार ज्ञात नहीं होता, मैं भिक्षु-संघ नहीं भेज सकता। दल वापिस लौट पड़ा। मार्ग में कई एक ऐसी आपत्तियाँ पड़ीं, जिनसे दल के सदस्यों में से केवल एक सज्जन 'विलवेगेदर' को छोड़ बाक़ी सब मर गये! इस सदस्य ने ही आकर यह सब वृत्तान्त कहा। अपने धार्मिक विश्वासों के कारण न मालूम कितने लोगों ने इस प्रकार अपने प्राणों की आहुति दी है। काश! कि हम उन लोगों के नाम भी स्मरण रख सकते।

श्री विजयराज सिंह के बाद कीर्ति श्री राजसिंह उनके उत्तराधिकारी हुए। यह नरेश आरम्भ से ही अपनी प्रजा के धार्मिक कल्याण के इच्छुक थे। उन्होंने सच्चे दिल से शरणङ्कर की योजना का समर्थन किया। फिर एक बार एक दल स्याम भेजा गया। इस दल के एक सज्जन तो वही 'विलबेगेदर' थे जो पहली यात्रा में बड़ी कठिनाई से अपने प्राण बचा कर लाये थे। स्याम-नरेश ने दल का स्वागत किया। इस दल की यात्रा का वर्णन अनेक रोमांचकारी घटनाओं से पूर्ण है। आजकल एक

देश से दूसरे देश की यात्रा मामूली बात हो गई है। इस समय हम नहीं समझ सकते कि उन लोगों को किन-किन आपत्तियों का सामना करना पड़ा होगा। खैर, शरणङ्कर का स्याम से भिक्षु-संघ लाने का यह आखिरी प्रयत्न सफल हुआ। स्याम-नरेश ने लंका में उपसम्पदा स्थापित करने के लिए उपाली स्थविर की अध्यक्षता में भिक्षुओं की एक पर्याप्त संख्या भेजी।

जिस समय कैन्डी में यह समाचार फैला कि स्याम से भिक्षु-संघ-सहित राजदूत लौट आये, लोगों में प्रसन्नता की एक लहर दौड़ गई। राजकीय ढंग से भिक्षु-संघ का स्वागत किया गया। बड़े-बड़े विहारों के मठाधीश स्यामी भिक्षुओं के स्वागत के लिए आगे बढ़े। शरणङ्कर उनमें से एक थे। स्यामी भिक्षुओं ने सर्व-प्रथम शरणङ्कर के विषय में पूछा। कैन्डी में जिस जगह यह भिक्षु ठहराये गये थे, उस विहार का नाम 'मलवत्त-विहार' है। यहाँ पहुँच कर उपाली स्थविर ने बड़ी तत्परता से सिंहाली भिक्षुओं की उपसम्पदा की तैय्यारी शुरू की। अन्त में वह दिन आ पहुँचा, जिस दिन की प्रतीक्षा में एक सच्चे वीर ने अपना सर्वस्व जीवन लगा दिया था। एसल (=जुलाई-अगस्त) मास की पूर्णिमा को शरणङ्कर और उनके साथ पाँच प्रधान भिक्षुओं का उपसम्पदा-संस्कार हुआ। अगले महीने और कई सौ श्रामणेर उपसम्पन्न किये गये। इस प्रकार शरणङ्कर की संघ-सुधार-सम्बन्धी विशाल योजना सफल हुई। जातीय धर्म की ज्योति बुझते बुझते बच

गई। लंका फिर नये सिरे से बौद्ध देश कहलाने का अधिकारी हुआ।

उपसम्पदा के समय शरणङ्कर की आयु ४५ वर्ष की थी। स्यामी मिशन के साथ आये हुए राजदूतों को कैन्डी दरबार की ओर से बहुत से मूल्यवान् उपहारों के साथ स्याम वापस भेज दिया गया। मिशन के भिक्षु-सभासद् कई वर्षों तक लंका में रहे। कैन्डी-नरेश ने शरणङ्कर को संघ-राज के रूप में स्वीकार किया, और इसके बाद से शरणङ्कर संघराज-शरणङ्कर के नाम से प्रसिद्ध हुए। शायद ही कभी सिंहल जाति ने किसी मनुष्य का ऐसा सत्कार किया हो, जैसा उसने शरणङ्कर का उस समय किया था, जब कीर्ति श्री राजसिंह ने 'मलवत्त-विहार' में भिक्षु संघ के बीच विराजमान शरणङ्कर को 'संघराज' का आसन समर्पित किया।

ख्याति और सत्कार के शिखर पर चढ़कर भी संघराज शरणङ्कर ने अपने सरल तपस्वी जीवन को वैसा ही बनाये रखा। उनका स्वर्गवास ६१ वर्ष की आयु में हुआ। एसल (जुलाई अगस्त) मास की पूर्णिमा के दिन संघ-राज का चित्त खराब हुआ। वह अपने कमरे में जा लेटे। तबीयत अधिक बिगड़ती देखकर सब लोग समीप इकट्ठे हो गये। राजा और उसके अमात्य भी आ पहुँचे। संघराज ने धर्मानुश्रवण करने की इच्छा प्रगट की। गुणरत्न नाम के प्रसिद्ध धर्मवेत्ता पालि

सूत्रों का पाठ करने लगे। सूत्रों को ध्यान-पूर्वक सुनते सुनते संघराज ने इस नश्वर देह को छोड़ दिया। इस प्रकार वर्तमान लंका के सबसे बड़े महापुरुष की जीवन-लीला समाप्त हुई।

उनकी समाधि पर बना हुआ संघराज-चैत्य आज भी हमें उनके गुणों का स्मरण कराता है।

महावीर स्वामी

उन हज़ारों यात्रियों में से, जो प्रतिवर्ष कुशीनगर की यात्रा करते हैं, कितने हैं जिन्हें गत शताब्दी के प्रथम उत्तर भारतीय बौद्ध-भिक्षु महावीर स्वामी का कुछ भी परिचय प्राप्त है ?

मैं बहुत दिनों से आपका नाम सुनता आ रहा था लेकिन मुझे यह मालूम न था कि आप भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम (सन् १८५८ ई०) के प्रसिद्ध बाबू कुँवरसिंह के सम्बन्धी थे।

इस बार जब मैं कुशीनगर गया तो मैंने कुशीनगर विहार के पूज्य चन्द्रमणी महास्थविर (=चन्दा बाबा) से आपके जीवन-वृत्तान्त के बारे में जिन अनेक बातों की जानकारी प्राप्त की; उन्हीं को इस छोटी सी जीवनी में पिरोने का प्रयत्न किया है।

भभुआ (ई० आई० आर०) से कोई तीन मील की दूरी पर रूपपुर-नामक गाँव में, शायद सन् १८३३ में, महावीर सिंह का जन्म हुआ था*। उनके माता पिता के बारे में हमें कुछ पता नहीं; लेकिन उनका खान्दान निश्चित है। उनकी बचपन की शिक्षा स्कूली शिक्षा न होकर मैदानी थी। उनकी तरुणाई किताबें रटने में न घुलकर कसरती जीवन में विकसित हुई।

---

* इस सूचना के लिये मैं श्रद्धेय राहुल सांकृत्यायनजी का कृतज्ञ हूँ।



महावीर स्वामी

(गत शताब्दी के प्रथम उत्तर-भारतीय बौद्ध-भिक्षु)

आगे चलकर १८५८ में जब उन्हें कुँवर बाबू के कन्धे से कन्धा मिलाकर संग्राम में जूझने की जरूरत पड़ी, तो जवानी के दिनों की उनकी यह शिक्षा उनके काम आई।

उन दिनों—जब ये लाठी, गतका, तलवार आदि चलाना सीखते थे—कहते हैं कि एक बार उन्होंने अकेले कई डाकुओं को भगा दिया था और दूसरी बार एक चीते से भिड़ पड़े थे तथा उसे मार गिराया था।

सन् १८५८ में महावीर सिंह कुँवर बाबू के कन्धे से कन्धा भिड़ाकर लड़े। उस समय कुँवरसिंह अस्सी बरस के जवान थे। संग्राम में उन्होंने अँगरेजों को कई अवसरों पर छठी का दूध याद करा दिया। लेकिन अन्त में उन्हें कई जख्म लगे, एक हाथ जाता रहा और वे वीर-गति को प्राप्त हुए। उनके सगे सम्बन्धी चाहते थे कि जगदीशपुर के किले में ही उनका दाह संस्कार कर दिया जाय। लेकिन धर्मान्ध ब्राह्मणों ने एक न सुनी। उन्होंने आग्रह किया कि अन्त्येष्टि-संस्कार श्री गंगाजी के किनारे बक्सर घाट पर ही होना चाहिए। लोग श्री गंगाजी में पिण्डदान करवा रहे थे, कि अँगरेजों ने उनकी अनुपस्थिति में किले पर छापा मारा और उसे हस्तगत कर लिया। किले का हाथ से निकल जाना सुन, कुँवर बाबू के छोटे भाई अमर सिंह देश छोड़ भाग गये और फिर उनका कुछ पता नहीं लगा। महावीर सिंह अपने कुछ साथियों को इकट्ठा कर, पहलवानों

की एक जमाअत बना, कुश्ती लड़ते, इनाम पाते, खाते-कमाते दक्षिण की ओर बढ़ते रहे।

चलते-चलते उनकी मण्डली इन्दौर पहुँची। वहाँ, मालूम होता है कि, महाराज होल्कर ने यह जानकर कि आप बाबू कुँवरसिंह के सम्बन्धी हैं, आपकी विशेष खातिर की। कुछ ही समय इन्दौर में ठहर मण्डली फिर आगे बढ़ी।

इन्दौर से मद्रास के रास्ते की एक घटना उल्लेखनीय है। एक मन्दिर के महादेवजी के बारे में यह मशहूर था कि उनको जितना दूध चढ़ाया जाता है, सब पी जाते हैं। महावीर सिंह ने पुजारियों की चालाकी ताड़ ली। यार लोगों ने कुछ ऐसी उस्तादी कर रक्खी थी कि शिवजी पर जितना दूध चढ़ाया जाता वह सब एक जगह नीचे इकट्ठा हो जाता, जहाँ से घड़े के घड़े भरकर वह अन्य जगह पहुँचा दिया जाता। जगदीशपुर के किले की घटना के बाद ब्राह्मणों के लिए रहा सहा आदर तथा विश्वास का भाव, इस घटना से जाता रहा।

जिस समय महावीरसिंह मद्रास पहुँचे तो एक को छोड़कर बाकी सब साथी, एक-एक करके, उनका साथ छोड़ चुके थे। मद्रास में उन्होंने आखिरी कुश्ती मारी, जो कि एक प्रसिद्ध मुसलमान पहलवान के साथ हुई। कितने ही यूरोपियन इस कुश्ती को देखने आये थे। इनाम में महावीरसिंह को कोई एक हज़ार रुपये मिले, जिनमें से आधे उन्होंने यार-दोस्तों को

खिलाने-पिलाने में खर्च कर दिये। रामेश्वरम् पहुँचते-पहुँचते उनका अन्तिम साथी भी उनसे पृथक् हो गया, और महावीर सिंह अकेले ही समुद्र पार कर लङ्का पहुँचे। सिंहल में जगदीशपुर की ही तरफ का कोई दुकानदार था, जो वहाँ पहुँच कर धनी आदमी बन गया था। पाँच वर्ष तक महावीरसिंह उसके यहाँ रहे। अपनी यात्रा में महावीरसिंह ने कुछ थोड़ी-बहुत फलित ज्योतिष भी सीख ली थी, जो सिंहल के भिक्षुओं से परिचय बढ़ाने में इनके काम आई।

लङ्का में जब ये एक जगह से दूसरी जगह यूंही घूम रहे थे, इनको पेट-दर्द की कड़ी बीमारी हुई। ये सड़क पर पड़े थे। पास ही एक विहार था। वहाँ के भिक्षु महास्थाविर* इन्द्रासभ इन्हें अपने साथ विहार में ले गये। उन्होंने बड़े प्रेम से इस अपरिचित रोगी की सेवा की। महावीरसिंह रोग-शय्या पर पड़े थे, लेकिन उन्हें अभी तक एक अब्राह्मण के हाथ का भोजन करने में परहेज था। इन्द्रासभ स्थाविर* ने बड़े प्रेम, बड़ी होशियारी और बड़ी कोमलता से इस बिहारी-वीर महावीरसिंह के दिल से शनैः शनैः जात-पाँत के मिथ्या-विश्वास को दूर किया। विहार में भिक्षुओं में रहते-रहते महावीरसिंह का दृष्टिकोण बदल गया और उनकी इच्छा हुई कि श्वेत वस्त्रों को छोड़ 'आकाश की तरह स्वतन्त्र' भिक्षु-जीवन के बाहरी आवरण पीत-

*जिनको भिक्षु हुए दस वर्ष हो गये हों उन्हें स्थविर, और जो भिक्षु वयोवृद्ध तथा ज्ञान-वृद्ध हों; उन्हें महास्थविर कहते हैं।

वस्त्र को धारण करें। इन्द्रासभ स्थाविर की कृपा से उनका यह उद्देश्य पूरा हुआ।

जिस समय वे सिंहल में थे, एक धनी दाता ने महावीर स्वामी के पालि-सूक्तों के उच्चारण पर प्रसन्न होकर उन्हें एक नारियल का बाग भेंट किया। स्वामी ने उसे लेकर अपने गुरु के चरणों में समर्पित कर दिया।

उपसम्पदा* का समय नजदीक आया, तो उन्होंने इच्छा प्रकट की कि उनका उपसम्पदा-संस्कार बर्मा में हो। उनके गुरु ने आज्ञा दे दी। पूज्य हिक्कडुवे श्री सुमङ्गल महास्थविर तथा अपने गुरु इन्द्रासभ महास्थविर की सिफारिशी चिट्ठियाँ लेकर आपने बर्मा की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में पाण्डोचरी तथा कलकत्ते में ठहरते हुए सन् १८८४ में वे रंगून पहुँचे और शायद उसी वर्ष उनका उपसम्पदा-संस्कार हुआ।

१८८४ में ही आखिरी बर्मी-युद्ध हुआ, जिसमें थीब-नरेश पकड़े गये। देश में अशान्ति थी। आपके बर्मी गुरु ने आपको फिर शीघ्र ही लङ्का लौट जाने की सलाह दी।

जिस समय महावीर स्वामी बर्मा जा रहे थे, तो कलकत्ते पहुँचने पर उनकी इच्छा हुई कि बौद्ध-धर्म के चारों प्रसिद्ध तीर्थ

---

*आचार्य द्वारा प्रव्रजित किये जाने पर श्रामणेर या श्रमण और भिक्षु-सङ्घ द्वारा नियम-पूर्वक उपसम्पन्न किये जाने पर ही भिक्षु वास्तव में भिक्षु कहलाता है।

स्थानों* की यात्रा कर आवें। एतदर्थ वे सारनाथ आये। यहाँ उन्होंने देखा कि सारनाथ खण्डहर की ईंटें, बैलगाड़ियों पर भर भरकर, बनारस ले जाई जा रही हैं। उन्होंने गाड़ीवालों को रोका और आगे बढ़ने से मना किया। मामला किसी यूरोपियन अफ़सर के पास पहुँचा, जो तुरन्त आया कि क्या झगड़ा है? महावीर स्वामी ने बताया कि सारनाथ बौद्धों का पवित्र स्थान है, और यह असह्य है कि नये मकान बनाने के लिये यहाँ के पुराने पवित्र ऐतिहासिक भग्नावशेष उजाड़े जायँ। बात अफ़सर की समझ में आ गई। उसने एक चौकीदार रख दिया कि आगे से कोई यहाँ की ईंट भी न उठाये।

ऐसा प्रतीत होता है कि चारों बौद्ध-धामों में से आपके मन पर कुशीनगर का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा क्योंकि एक ही साल के बाद आप फिर एक बर्मी दायक के साथ, जो कि कोई २०० आदमियों की मण्डली के साथ तीर्थ-यात्रा करने आये थे, कुशीनगर पहुँचे। इस बार महावीर स्वामी अपने मन में

* (१) लुम्बिनी, जहां भगवान बुद्ध का जन्म हुआ (वर्तमान रुम्मनदेइ, स्टेशन नौतनवा, बी० एन० डबल्यू० आर०), (२) बुद्ध गया, जहाँ उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया (गया स्टेशन से ७ मील दक्षिण), (३) सरनाथ, जहां उनका प्रथम उपदेश हुआ, (सरनाथ स्टेशन बी० एन० डबल्यू० आर० से डेढ़ मील), (४) कुशीनगर, जहां उन्होंने महापरि-निर्वाण प्राप्त किया (वर्तमान कसया, ज़िला गोरखपुर, देवरिया स्टेशन)।

यह निश्चय करके लौटे कि वे जितनी जल्दी हो सकेगा, फिर कुशीनगर चले आयेंगे और यहीं स्थायी रूप से रहेंगे। आखिर १८९० में, जब उनसे नहीं रहा गया, तो वे कलकत्ते से कुशीनगर चले आये और यहीं पत्तों की एक छोटी सी झोंपड़ी बनाकर, उसमें रहने लगे। आसपास के गरीब किसान उनके अन्नदाता थे। शनैः-शनैः जब उन्हें आसपास का कुछ परिचय हो गया तो उन्होंने यात्रियों के आराम के लिये एक 'आराम' बनाने की सोची। एक बर्मी दाता ने उनको इस काम में उत्साहित किया और धर्मशाला बनवाने के लिये आर्थिक सहायता देने का वचन दिया। एक यूरोपियन अफसर ने भी उनको इस काम में उत्साहित किया। महावीर स्वामी एक दिन सड़क के किनारे टहल रहे थे कि एक यूरोपियन साहब ने अचानक गाड़ी से उतर कर कहा—"वन्दामि भन्ते!"—"स्वामी जी! प्रणाम करता हूँ"—और अपने बँगले पर चलने के लिये प्रार्थना की। बातचीत में जब महावीर स्वामी ने कहीं थोड़ी सी जमीन लेने की इच्छा प्रकट की, तो यूरोपियन अफसर ने पूरी सहायता करने का वचन दिया।

श्रीयुत खजारी और उस यूरोपियन अफसर से मिलनेवाली सहायता के भरोसे महावीर स्वामी ने कार्य आरम्भ करने की ठानी। वह कलकत्ते आये, लेकिन जब लौटकर कुशीनगर पहुँचे, तो उक्त यूरोपियन अफसर की कहीं तबदीली हो गई

थी ! कुशीनगर के बाबू जनकधारीप्रसाद की प्रेरणा से आपने सरकार से एक टुकड़े जमीन की याचना की। जवाब मिला— "नहीं"। अन्त में आपने एक ब्राह्मण से ६०) बीघा पर कुछ जमीन खरीद कर उसमें धर्मशाला बनवाने का कार्य आरम्भ किया। दो-तीन महीने तक काम की देख-भाल करते रहने के बाद जब आप कलकत्ते गये, तो श्रीयुत खजारी ने आपको एक छोटे से बक्स में बन्द १५००) दिये। बौद्ध-भिक्षु के नियमानुसार आप रुपये को हाथ नहीं लगाते थे। इसलिए देवरिया (जिला गोरखपुर) स्टेशन पर जब आपको एक कुली को चार आना देने की जरूरत हुई, तो आपने उसके सामने बक्स खोल दिया, और उससे कहा कि वह उनमें से अपने चार आने ले ले। वहाँ आसपास जो लोग खड़े थे, उन सब को मालूम हो गया कि बक्स में क्या है ? रात को जब वे बैलगाड़ी में सोते हुए जा रहे थे कुछ डाकू आये, गाड़ी उलट डाली और रुपये लेकर चम्पत हुये। इस छोटी सी घटना से जहाँ एक ओर महावीर स्वामी की धार्मिकता प्रकट होती है, वहाँ दूसरी ओर उनकी थोड़ी सी लापरवाही भी। लेकिन दरअसल बात यह थी कि उनको अपनी व्यक्तिगत शक्ति का बहुत विश्वास था। यदि वे जागते रहते तो डाकुओं की क्या मजाल थी कि उनका रुपया लूट ले जाते।

श्रीयुत खजारी को हम इस बात का श्रेय देंगे कि उन्होंने इस १५००) के नुकसान का तनिक ख्याल न कर एक उदार-

चेता दाता की भाँति पूर्ववत् अपनी सहायता जारी रक्खी। महावीर स्वामी की देख-रेख में धर्मशाला बनती रही और लगभग १५०००) की लागत से, सन् १९०२ में, बनकर तैयार हुई। धर्मशाला के बरामदे में लगे हुये दोनों चित्र प्रत्येक यात्री को महावीर स्वामी और श्री खजारी की याद दिलाते हैं; क्योंकि इन दोनों में से अकेला कोई भी इस धर्मशाला को न बना सकता।

इस शताब्दी के आरम्भ में कुछ यूरोपियन पण्डित इस बात को नहीं मानते थे कि भगवान् बुद्ध का परिनिर्वाण कुशी-नगर में ही हुआ। लेकिन जब महापरिनिर्वाण-स्तूप के अन्दर की खुदाई से कुशीनगर के ही भगवान् बुद्ध का परिनिर्वाण-स्थान होने का लिखित प्रमाण मिल गया तो बर्मा के एक बौद्ध सज्जन ने १८०००) की लागत से· महापरिनिर्वाण-चैत्य की मरम्मत कराई।

महावीर स्वामी अपनी आँखों महापरिनिर्वाण-चैत्य के वर्त्तमान भव्य रूप को नहीं देख सके। लेकिन वे अपने हिस्से का कार्य कर गये। अपने आखिरी दिनों में उन्हें अपच और पेचिश की शिकायत रहती थी। इसलिये वे केवल फल ही फल खाते थे। जन्म भर वे बाहर खुले हुये बरामदे में ही सोते रहे। मृत्यु के एक सप्ताह पूर्व उनका बिस्तरा कमरे के अन्दर कर दिया गया। तीव्र पीड़ा की अवस्था में भी वे बड़े शान्त थे। जब-जब उनसे पूछा जाता कि हालत कैसी है, उनका एक

ही उत्तर होता—"सब ठीक है।"

संवत् १९७६ का चैत्र का महीना था। एक दिन उन्होंने अपने सेवक फिरंगिया को बुलाया और पूछा कि क्या चाहिये। अपने स्वामी के स्वास्थ्य और दीर्घ-जीवन के अतिरिक्त फिरंगिया क्या माँगता ? महावीर स्वामी ने एक दुशाला मँगाया और अपने हाथ से फिरंगिया को दिया। उसकी आँखें डबडबा आईं। वह रो पड़ा। उसे और अन्य सभी को करुणा भरी दृष्टि से देखते हुए महावीर स्वामी ने अपनी आँखें बन्द कर लीं।

सुजुकी

सभी मनुष्यों के हृदय में कभी-न-कभी तो सात्विक भावों का संचार होता ही है। उनकी असद्-वृत्तियों को सद्-वृत्तियों के समाने हार माननी पड़ती है। उस समय उनका हृदय कहता है, "कैसा अच्छा होता, यदि हम भी किसी के कुछ काम आ सकते!" धन्य है वह निर्मल हृदय, जिसमें परोपकार की यह भावना एक बार उठ कर शीघ्र ही मिट नहीं जाती किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है—और यहाँ तक बढ़ती है कि फिर उसे अपना सर्वस्व भी दूसरों की सेवा में लगाकर संतोष नहीं होता; वह चाहता है कि दधीचि की भाँति उसकी हड्डियाँ भी किसी के काम आ जायँ।

इसी श्रेणी के एक बौद्ध भिक्षु आज से कोई ३० वर्ष पूर्व उत्तर-पूर्वीय जापान के कोरियामा नामक जिले में हो गये हैं। सन् १८४२ के मार्च में, एक बहुत ही साधारण परिवार में, उनका जन्म हुआ। माता-पिता ने उनका नाम शिन्को-सुजुकी रक्खा। अपने बाल्य-काल में उन्होंने चिसेकिन नामक बौद्ध-मन्दिर में शिक्षा पाई और २५ वर्ष की आयु में वह 'नपोजी' मन्दिर के पुजारी बना दिये गये। अपने जीवन के अन्तिम दिन तक वह यहीं रहे; और ५० वर्ष की साधारण आयु में

तो उनका स्वर्गवास ही हो गया। वह इस संसार में बहुत दिन नहीं जिये। उन्होंने समाज में कोई विशेष ऊँचा स्थान भी नहीं प्राप्त किया। उनकी कोई विशेष ख्याति भी नहीं हुई। किन्तु, उनके जीवन में 'त्याग और सेवा' का भाव ऐसा कूट-कूट कर भरा हुआ था कि, हम उनको 'त्याग और सेवा की मूर्ति' के अतिरिक्त और कुछ कह ही नहीं सकते।

(२)

आज के ५० वर्ष पूर्व जापान में, बहुत से स्थानों पर, अनेक अमानुषिक उपायों से लोग अपने बच्चों की हत्या कर डालते थे। कोई तो उन्हें समीप के जलाशय में फेंक देता, कोई उन्हें वृक्ष पर लटका कर मार डालता, किन्तु अधिकतर लोग अपनी सन्तान के साथ 'कोगशी' का व्यवहार करते थे। 'कोगशी' का शब्दार्थ है, "प्रकृति को लौटा देना," और उसका मतलब है, बच्चे के मुँह और नाक में गीला कागज ठूँस कर उसका साँस बन्द कर देना।

इस प्रकार की सब से अधिक घटनायें महात्मा सुजुकी के अपने जिले 'कोरियामा' में ही होती थीं। इसलिए वह अपने आसपास इस प्रकार का अत्याचार होता देख व्याकुल हो उठे। उन्हें बच्चों से बहुत प्यार था। वह कहते थे, "यदि मैं इस कुरीति को बन्द कर सकूँ, तो मुझे और अधिक कुछ न चाहिए।" उन्होंने देखा, इस कुरीति का मूल और महान् कारण दरिद्रता है। निर्धन माता-पिता अपने बच्चों को परवरिश करने में असमर्थ

होने ही के कारण उन्हें मार डालते हैं। इसलिए पहले उन्होंने अपने आस-पास के लोगों को आर्थिक सहायता देनी आरम्भ की। जो कुछ उन्हें इधर-उधर से दान में प्राप्त होता, वह किसी न-किसी रूप में दरिद्रों के यहाँ पहुँचा देते। अपने लिए वह बहुत ही थोड़ा खर्च करते थे। प्रायः नमक के साथ थोड़ा भात खाकर रह जाते और तन को एक फटे-पुराने वस्त्र से ढक कर संतोष करते ।

(३)

किन्तु, यह बीमारी तो बहुत गहरी थी। इस साधारण औषध से दूर होने वाली न थी। वह दिन-रात यही सोचते रहते, "इन निरीह बच्चों के प्राण कैसे बचें ?" एक दिन आस-पास के गाँवों के बहुत से लोग सुजुकी का उपदेश सुनने के लिए इकट्ठे हुए। सुजुकी ने कहा, 'मैं देखता हूँ कि तुममें अभी तक अनेक लोग ऐसे हैं, जो इस महान् पाप को करते हैं। यदि तुम स्वयं अपने बच्चों का पालन नहीं कर सकते, तो मैं उन सब का पालन करूँगा। अपने बच्चों की हत्या करने से पूर्व मुझे उसकी सूचना दे दिया करो। ज़रा एक बार आकर कह दिया करो कि हमारे पास इसे पालने के लिए धन नहीं है। बस, फिर मैं उसकी सम्हाल कर लिया करूँगा। शायद तुम समझते हो कि निरपराध बच्चे की हत्या कर के हम एक बोझ से मुक्त हो जाते हैं, लेकिन, याद रक्खो, इस पाप के बदले में तुम्हें महान् कष्ट सहना होगा।" यह कहते-कहते महात्मा सुजुकी का गला रुँध गया, और

आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली। अपने व्याख्यान की समाप्ति पर वह खूब रोये-और, जनता भी उनके साथ रो पड़ी। लोगों को अपने पिछले बुरे कृत्यों का बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उस दिन से अनेक स्त्रियाँ, जो सुजुकी के उपदेश से प्रभावित हुई थीं, इस कुरीति को मिटाने के लिए सतत उद्योग करने लगीं, जिसका फल यह हुआ कि कुछ काल के बाद कोरियामा के ज़िले से यह कुरीति बिलकुल मिट गई।

(४)

यह सत्य है कि सुजुको के उपदेश से हज़ारों निरपराध बालक पैदा होते ही मृत्यु का ग्रास बनने से बच गये, किन्तु, इसके लिए, उन्हें कुछ कम तपस्या न करनी पड़ी। आगे चलकर उन्होंने बड़े ही कठिन दिन व्यतीत किये। एक दिन कड़ाके को सर्दी पड़ रही थी। प्रातःकाल ही एक मज़दूर अपने बालक को लिये सुजुकी के पास आया और बालक को उनकी गोद में देकर बोला—"महात्मन, यह मेरा बालक है, आप इसका पालन करें।" बच्चा अत्यन्त ही दुबला पतला था, और उसके तन पर फटे पुराने चीथड़ों के अतिरिक्त और कुछ न था। मज़दूर कहने लगा—"इस लड़के की माँ को मरे एक मास हो गया है। इस एक मास में, मैं कुछ भी तो नहीं कमा सका; जो कुछ मेरे पास था, वह सब समाप्त हो गया। मेरे पास इसकी माता के तथा अपने कुछ कपड़ों के अतिरिक्त और था ही क्या? अब मैं इस लड़के को साथ रखकर मज़दूरी भी नहीं कर सकता।

महात्मन्, मेरे लड़के का पालना करें।" यह कहता हुआ वह रो पड़ा और बोला—"महात्मन्! कल मुझे घर के मालिक ने भी घर से निकाल दिया। रात भर मैं आपके इस बरामदे में ही ठिठुरता रहा। दिन चढ़े मुझे एक स्त्री ने आपका पता बताया। मैं आपकी शरण आया हूँ। मेरे बच्चे की रक्षा करें, मैं सदा आपका ऋणी रहूँगा।" सुजुकी ने कहा—"कोई हर्ज नहीं; तुम अपने बच्चे को मेरे पास छोड़ जाओ; और जब तुम इसका पालन करने योग्य हो जाओ, या यह तुम्हारी कुछ सहायता करने योग्य हो जाय, तो जब जी चाहे आकर ले जाना।" कृतज्ञता से उस मनुष्य का हृदय भर आया। वह कुछ कहना चाहता था—अपनी कृतज्ञता को शब्दों द्वारा प्रकट करना चाहता था—किन्तु, न कर सका। बड़ी मुश्किल से उसने दो चार शब्द कहे, और चलने के लिए तैयार हुआ। लेकिन सुजुकी ने उसे रोक कर रुपये देते हुए कहा—"यह लो, इससे नये वस्त्र ख़रीद लेना। यह चीथड़े पहने हुए शायद तुम्हें मज़दूरी भी न मिले।"

(५)

ऐसी घटनायें लोगों के कानों तक पहुँचने लगीं और लोगों में यह प्रसिद्ध हो चला कि सुजुकी दया के अवतार हैं। जिन बच्चों को उनके माता-पिता नहीं पाल सकते, उन सबके पालने का भार अपने सिर पर लेते हैं। तब क्या था, अनेक लोग आकर अपने बच्चे उनके सुपुर्द करने लगे। यहाँ तक कि कुछ

ही दिनों में बच्चों की संख्या काफ़ी हो गई। मन्दिर के पुराने लेखे से मालूम होता है कि उन दिनों में जब 'येन' की क्रय-शक्ति आज से लगभग २० गुनी थी, वह प्रत्येक बालक पर एक 'येन' माहवार ख़र्च करते थे। इससे मालूम होता है, वह बच्चों को खाने की कमी नहीं होने देते थे। मन्दिर में चावल आदि की जो आमदनी होती थी, वह उतने बड़े परिवार के लिए बिल्कुल अपर्याप्त थी। क्योंकि कभी-कभी उनके पास पचास-पचास बालक इकट्ठे हो जाते थे। धनाभाव के कारण इतने बच्चों के लिए दाइयाँ तो रक्खी ही नहीं जा सकती थीं, इसलिए प्रायः हर रोज़ सुज़ुकी को, एकाध बच्चा गोद में लिये और एकाध कमर पर उठाये, दूध माँगने जाना पड़ता था। उनका ध्यान इन बच्चों की शिक्षा की ओर भी था। उन दिनों जापान में अनिवार्य शिक्षा न थी। अनेक लोग ग़रीबी के कारण अपने बच्चों को पढ़ा न सकते थे। सुज़ुकी ज्यों ही किसी बालक को स्कूल जाने योग्य हुआ देखते, उसे किसी पास के प्राइमरी स्कूल में भर्ती करा देते। बच्चों के स्वास्थ्य की ओर भी उनका पूरा-पूरा ध्यान था। यदि कोई बच्चा बीमार पड़ जाता, तो माता पिता से भी अधिक वह उसकी सेवा करते। कभी-कभी बीमारों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाने पर वह किसी दाई को भी नौकर रख लेते थे। लेकिन दाइयों को देने के लिए उनके पास धन कहाँ था? बहुत बार बच्चों के लिए दवाई इत्यादि का भी प्रबन्ध नहीं हो सकता था। जब वह किसी बच्चे के तन पर

कपड़ा न देखते तो नौकर को बुलाकर कहते—"यह लो मेरे बदन का कपड़ा, और इसे बेच कर इस बच्चे के लिए कोई वस्त्र ले आओ।" इसलिए यद्यपि कभी-कभी कुछ धनी दानी उनके लिए मूल्यवान वस्त्र भी भेज देते थे, किन्तु उनके तन पर प्रायः फटे पुराने वस्त्र ही रहते।

(६)

सुजुकी की दानशीलता का यह समाचार सरकारी अफ़सरों के कानों तक भी पहुँचा। उन्होंने उनके प्रति आदर प्रकट करने के लिए उन्हें एक चाँदी का प्याला भेंट करना चाहा। सुजुकी ने वह पात्र लेना स्वीकार न किया। कहने लगे—"भिक्षु के लिए दानशील होना एक साधारण गुण है, इसमें मेरी कोई विशेषता नहीं।" एक बार कुछ सरकारी आदमियों ने चाहा कि वह अपने कार्य की रिपोर्ट लिखकर ऊँचे सरकारी अफ़सरों तक पहुँचा दें, जिससे उन्हें कुछ सरकारी सहायता मिल जाय किन्तु सुजुकी ने किसी प्रकार की रिपोर्ट आदि भेजना स्वीकार न किया। वह यही सोचते थे कि यह उनका अपना निजी कार्य है।

(७)

एक बार जब जापान के स्वर्गीय सम्राट् मेयजी कोरियामा के जिले की ओर गये, तो सुजुकी की कीर्ति उनके कानों तक पहुँची। उन्होंने अपने मन्त्री के हाथ सुजुकी के पास तीन चाँदी के पात्र भेजे। मन्त्री ने सुजुकी को सरकार से कुछ सहायता माँग लेने की सम्मति दी। किन्तु सुजुकी का एक ही उत्तर था—"मुझे

भगवान् बुद्ध की सहायता के अतिरिक्त और किसी की सहायता नहीं चाहिए।"

(८)

सुजुकी ने सैकड़ों ऐसे बच्चों की परवरिश की होगी, जिनको या तो उनके माता-पिता मार डालते या वे स्वयं भोजन न मिलने से मर जाते। किन्तु यह तो उनके त्याग-मय जीवन का केवल एक कार्य था। उन्होंने अपने जीवन में ऐसे अनेक कार्य किये। कोई भी मनुष्य कैसे भी दुःख से पीड़ित होता, यदि सुजुकी को उसकी खबर लग जाती, तो वह उसका कुछ-न-कुछ दुःख अवश्य दूर करते। एक बार बहुत रात गये उनके द्वार पर एक भिखमंगा आया और खाने के लिये कुछ माँगने लगा। सुजुकी उस समय दिन भर की थकावट को दूर करने के लिये स्नान कर रहे थे। उन्होंने अपने नौकर से कहा—"इसको यहाँ स्नानागार में ही मेरे पास ले आओ।" नौकर ने कहा—"उसे यहाँ लाने के लिये आज्ञा न दें, वह कोढ़ी है।" दयावान भिक्षु ने फिर कहा—"कोई डर नहीं, ले आओ।" भिखमंगा अन्दर आया। वह वास्तव में कोढ़ी था। सुजुकी ने उसे अपने साथ नहलाया और कितने ही दिनों तक अपने पास मन्दिर में ही रक्खा।

(९)

एक बार तोहूकू के जिले में बड़ा भारी अकाल पड़ा। सकामा के जिले के लोगों को भी बड़ा कष्ट हुआ। वे भूख

से मरने लगे। भूखों मरते लोग कभी-न-कभी चावलों की चोरी करने के लिए सुजुकी के मन्दिर में घुस आते। जब कभी उनका नौकर इसकी शिकायत करता, तो सुजुकी कहते—"चोरी किये बिना ये अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर सकते। इसलिये हमारी दया के पात्र हैं। जब कभी किसी को चोरी करते देख लो, तो उसे लज्जित मत करो।"



डा० ढालके
(आपका एक मात्र यही चित्र प्राप्य है)

डा० ढालके

यूरोपीय देशों में बौद्ध धर्म का सब से अधिक प्रचार जर्मनी में है, और जिन लोगों ने न केवल बौद्ध साहित्य द्वारा बल्कि बौद्ध-जीवन द्वारा जर्मन-निवासियों को बुद्ध धर्म का प्रशंसक बनाया है, उनमें डा० ढालके का नाम प्रमुख है।

सन् १८६५ के जनवरी मास की २५ तारीख को पूर्व-प्रशिया के ओस्टेड-रोड नगर में पाल नामक एक बालक का जन्म हुआ। जब वह अभी छोटा ही था, एक दिन अपनी माता के पास जेब में हाथ डाले खड़ा था। एकाएक वह सामने की लकड़ी की बाड़ पर चढ़ा, कूदा, दूसरी ओर खड़े एक लड़के के सिर पर घूंसा मारा, और बड़ी फुर्ती से उसी रास्ते वापिस आकर माता के पास खड़ा हो गया। माता ने पूछा, यह क्या किया? बोला—यह बड़ा लड़का एक छोटे लड़के को तङ्ग कर रहा था। मुझसे देखा न गया।

विद्यार्थी-जीवन में पाल की गिनती श्रेष्ठ विद्यार्थियों में न थी। शिक्षकों को सन्तुष्ट रखने के लिये वह थोड़ी देर पढ़ता और फिर बस। बाकी समय में उसे अपने निजी काम बहुत थे—पत्थर, सिक्के, पत्ती, अण्डे, मेंढक आदि इकट्ठे करना।

अठारह वर्ष की आयु में स्कूली शिक्षा समाप्त कर पाल ढालके ने डाक्टरी पढ़ना आरम्भ किया। इस समय वह सब

से बढ़ कर परिश्रमी विद्यार्थी माना जाता था। उसके लिए हुए प्रोफेसरों के व्याख्यानों के "नोट" सब के काम आते थे।

शिक्षा समाप्त कर होम्यूपैथिक चिकित्सा करते उन्हें बहुत दिन न हुए थे कि उनकी प्रैक्टिस चमक निकली। ३२ वर्ष की ही आयु में, उनके पास इतना पैसा हो गया कि वे संसार की यात्रा के लिए निकल सकें। इस समय तक उन्हें बौद्ध धर्म का कुछ भी परिचय न था। सम्भव है, इस यात्रा में ही उन्हें कहीं कुछ परिचय मिला हो। उस समय वे केवल भारत, जापान, हवाई, समोआ तथा अमरीका को ही यात्रा कर पाए—माता के रोगग्रस्त होने का समाचार मिलने के कारण वे शीघ्र लौट गये।

कुछ समय बाद अवकाश मिलने पर उन्होंने फिर यात्रा आरम्भ की। इस बार उद्देश स्पष्ट था—बौद्ध धर्म और भारत की विस्तृत जानकारी प्राप्त करना। भारत की ही बात है। एक बार वे किसी दूकान पर खड़े थे। उनके कोट पर एक बड़ी मक्खी आ बैठी। उन्होंने अपनी यूरोपियन लापरवाही के साथ उसे झटका और मार दिया। दूकानदार ने देखा, क्या असभ्य आदमी है। उसका बर्ताव कुछ रूखा होगया। डा० ढालके पर इस घटना का प्रभाव पड़ा। बौद्ध हो जाने पर वे इसे कभी नहीं भूले।

सिंहल और बर्मा में रह कर पालि भाषा के अध्ययन तथा बौद्ध-भिक्षुओं के सत्संग से जो ज्ञान प्राप्त किया, अपने स्वतन्त्र-अध्ययन और मनन से आपने उस पर अपनी

मौलिकता की छाप लगा दी। जर्मन भाषा में आपने बौद्ध-धर्म सम्बन्धी अनेकों ग्रन्थ लिखे। उनमें से कुछ जापानी तथा अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं में भी अनूदित हो चुके हैं। 'बौद्ध-धर्म और विज्ञान' 'तथा बौद्ध-धर्म और मनुष्य के मानसिक जीवन में उसका स्थान'—ये दो अन्तिम ग्रन्थ अद्भुत हैं। उनके पढ़ने से प्रतीत होता है कि शोपनहार के बाद जर्मनी ने जो विचारक पैदा किये, उनमें डा० ढालके का स्थान किसी से कम नहीं।

आपने अपने घर का नाम रक्खा था "बौद्ध-गृह"। आइये, आपको जरा इसकी सैर करायें। देखिये, सर्व-प्रथम इसके द्वार पर ही दृष्टि डालिये। बौद्ध शिल्पकला के अद्वितीय नमूने प्रसिद्ध-सांची-द्वार की नकल है। अपने यहाँ के कुछ धनी भले ही वर्तमान यूरोपियन कला की जूठन चाटा करें, परन्तु डा० पाल ढालके ने बर्लिन से कुछ ही मील के फासले पर भारतीय शिल्प-कला की ध्वजा गाड़ी है। दरवाजे के उस ओर जो सीढ़ियाँ है, आप उन्हें निरर्थक न समझें। वे विशेष आशय को लेकर बनवाई गई हैं। आठ सीढ़ियों का मतलब है बौद्धों का आर्य-अष्टांगिक मार्ग और बारह सीढ़ियों का मतलब है द्वादशांग प्रतीत्य-समुत्पाद (=प्रत्यय से उत्पत्ति का सिद्धान्त)। आगे जो रेत की पहाड़ी पर बहुत से कमरे हैं, वे योगाभ्यासियों के रहने तथा ध्यान आदि के लिये बनाये गये हैं। मध्य में जो बड़ा कमरा है, वह बुद्ध-मन्दिर

है। अन्दर आइये और सामने की दीवार के तीन शिला लेखों पर दृष्टि डालिये। देखिये, बीच की शिला पर भगवान् बुद्ध की क्या ही सुन्दर, शान्त मूर्ति अंकित है और उसके दोनों ओर के दो शिलालेखों पर जर्मन अनुवाद सहित भगवान् के कुछ उपदेश। प्रतिदिन अनेक लोग इस बुद्ध-मन्दिर को देखने आते हैं और ढाई सहस्र वर्ष पूर्व भारत में दिये गये भगवान् बुद्ध के इन उपदेशों से अपने को कृत्कृत्य करते हैं। महीने में दो बार बर्लिन और आसपास के बौद्ध इस बुद्ध-मन्दिर में एकत्रित होते हैं और प्रयत्न करते हैं कि डा० ढालके द्वारा प्रज्वलित की गई यह धर्म-ज्योति बुझने न पावे।

अपने इस "बौद्ध-गृह" को यूरोप में बौद्ध संस्कृति के प्रसार का एक महान केन्द्र बना देने के लिये डा० ढालके सब कुछ कर रहे थे। अपनी होम्योपैथिक की प्रैक्टिस से वे जितना धन कमाते थे, सब इसी के निर्माण में खर्च कर देते, उनकी बहनें भी उस कार्य में उनकी सहायक थीं। किन्तु मृत्यु ने उनकी यह अभिलाषा पूरी न होने दी। सन् १९२८ की २९ फरवरी को उनका शरीरांत हो गया। इस समय यह बौद्ध-गृह डा० ढालके के परिवार के हाथ में है और वह इस आशा में है कि बौद्ध संस्कृति के प्रेमियों में से कोई सामर्थ्यवान् व्यक्ति, डा० ढालके की इस पुण्य-कृति की रक्षा तथा संवर्धन के लिये आगे आये।



अनागारिक धर्मपाल
(आप भारत में बौद्धधर्म के पुनरुद्धारक थे)

अनागारिक धर्मपाल

प्रव्रज्या ग्रहण करने के एक दिन पूर्व—ठीक एक दिन पूर्व—पहली बार अनागारिक के दर्शन किये। स्वामी रामोदार (श्री राहुल संस्कृत्यायन) उन दिनों लंका के विद्यालंकार-कालेज (कैलानिया) में संस्कृत के प्रोफेसर थे। पता लगा कि अनागारिक कोलम्बो में अपने घर पर बीमार पड़े हैं। हम दोनों ने इरादा किया कि एक दिन अनागारिक को देखने चलना चाहिये। ९ फरवरी १९२८ को प्रातःकाल कोई साढ़े नौ बजे हम अनागारिक के यहाँ पहुँचे। देखा कि आप एक ड़े कमरे में पलंग पर लेटे हुए हैं। अनागारिक का नाम अनेक बार सुना था। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के बाद उन्हीं की कल्पना किया करता था। आज उनको सामने देख चित्त हर्ष से फूला न समाया। हमने कमरे में प्रवेश किया ही था कि अनागारिक ने अपने एक आदमी से कहा—"ज़रा, उठा कर बिठा दो।" बदन पर पीले रेशम का कुर्ता और लाल रङ्ग की पतली धोती पहने अनागारिक के लम्बे-चौड़े शरीर की वह स्मृति ज्यों-की-त्यों बनी है। उन्हें दमे की तरह का कोई रोग था। साँस लेने में कठिनाई हो रही थी। उनके एक स्वजन ने बड़ी मृदुता और होशियारी से हमें यह बतला दिया कि हमारा अधिक देर तक अनागारिक के

पास ठहरना उनके स्वास्थ्य के लिये अच्छा न होगा, इसलिए बैठते समय हमने निश्चय किया कि जितनी जल्दी हो सकेगा, अनागारिक से बिदा लेने का प्रयत्न करेंगे। अनागारिक भी वार्तालाप के आरम्भ में कुछ सम्हलकर बोलते रहे; लेकिन ज्यों ही विदेश में बौद्धधर्म-प्रचार की चर्चा छिड़ी, त्योंही उनका चेहरा तेज से और हृदय उत्साह से भर गया, और वे इस प्रकार बोलने लगे, मानो उन्हें कोई रोग है ही नहीं। बीच में हमारे दो-एक बार 'अब आज्ञा दीजिये' कहने पर बोले, "बैठिये, देखिये, यह सिंहाली इस कार्य का महत्व समझते ही नहीं। मैंने तो निश्चय किया है कि लण्डन में एक बौद्ध बिहार स्थापित करके ही चैन लूँगा।" कितना उत्साह था उनके इस कथन में!

साधारण तौर पर देखा गया है कि रोग की अवस्था में आदमी अपने आदर्शों को भूल जाता है; लेकिन अनागारिक ने न केवल इस बार, बल्कि इससे अधिक रोग की अवस्था में भी, कभी अपने-आपको हतोत्साह नहीं होने दिया। जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं अगले ही दिन प्रव्रजित होने जा रहा हूँ, तो मेरे कमज़ोर शरीर की (जो उन दिनों विशेषरूप से कमज़ोर था) ओर देखकर बोले—"देखिये, आप अभी प्रव्रज्या ग्रहण न कीजिए। पहले कुछ दिन स्वास्थ्य सुधार लीजिये। साधारण सेना की भाँति भगवान् बुद्ध की सेना में भी कोई कमज़ोर भिक्षु नहीं होना चाहिए।" मैंने

कहा—"आपका कथन सत्य है; लेकिन यह कहिये कि स्वास्थ्य-सुधार संघ में प्रवृष्टि होकर अधिक अच्छा हो सकेगा, या बाहर रहकर ?" वे मुसकराये। जिसका मतलब था कि वे मेरे भिक्षु बन जाने पर अधिक स्वस्थ हो जाने की सम्भावना से सहमत थे। हुआ भी ऐसा ही। उस दिन मध्याह्नान्तर से पूर्व हम कैलानिया वापस न लौट सके।

× × ×

एक-एक करके अनेक दिन गुजर गये। मुझे अनागारिक को देखने जाने का अवसर न मिला। इसी बीच में वे शायद एक बार भारत भी हो आये। एक दिन अचानक पता लगा कि वे फिर बीमार हैं, और पहले की अपेक्षा अधिक। मैं उन्हें देखने गया। इस बार वे विद्योदय-परिवेण (= महाविद्यालय) के सामने महाबोधी-कार्यालय के एक कमरे में लेटे हुए थे। वे चाहते थे कि वहाँ से वे समय-समय पर भिक्षुओं और चैत्य के दर्शन करते रहें। उस दिन मैं उनके पास कोई तीन-चार घन्टे ठहरा। छोटी सी बात है, लेकिन छोटी बातों में ही आदमी का चरित्र छिपा रहता है। उन्होंने देखा कि शरीर-सम्बन्धी संयम की ओर से कुछ लापरवाह हो, मैं एक टाँग पर दूसरी टाँग रख कर बैठा हूँ। बोले—"देखिये! भिक्षु को ऐसे नहीं बैठना चाहिए।" अनागारिक गृहस्थ न थे, लेकिन वे प्रव्रजित भी न थे। अविवाहित रह कर बौद्ध-धर्म का प्रचार करना—यही उनके जीवन का एक मात्र उद्देश

था। सो साधारण लोकाचार के ख़याल से उन्हें एक भिक्षु का यह दोष उसे साफ़-साफ़ नहीं बताना चाहिए था। बताना ही था, तो वे उसे जरा घुमा-फिरा कर—मीठा बना कर कह सकते थे; लेकिन यह अनागारिक ने कभी सीखा ही न था। घुमा-फिरा कर किसी बात को कहना वे जानते ही न थे। जिस बात को कहते, साफ़-साफ़ कहते। मैं समझता हूँ कि उनके अपने देश में और बाहर भी समय-समय पर उनकी जो कड़ी आलोचना हुई हैं, उसका प्रधान कारण उनकी यह स्पष्टवादिता ही रही है। हाँ, तो मैंने धन्यवादपूर्वक तुरन्त अपनी ग़लती सुधारी। उसी मकान के दूसरे हिस्से में कुछ श्रमण-विद्यार्थी रहते थे। वे दिन में तीन बार अनागारिक के पलंग के पास बैठ कर कुछ पाली-सूत्रों का संगायन किया करते। समय पर वहाँ उपस्थित होने से आज मैं भी उन विद्यार्थियों में शामिल हुआ। अनागारिक किसी की सहायता से चारपाई पर उठ बैठे, और ध्यान लगा कर सुनने लगे। पाली-सूत्रों का यह पाठ कोई ४५ मिनट तक जारी रहा होगा। अनागारिक के स्वास्थ्य की अवस्था में किसी भी आदमी के लिए ४५ मिनट तक इस प्रकार स्थिर चित्त बैठे रहना, अत्यन्त ही कठिन था; लेकिन अनागारिक हाथ जोड़े वैसे-के-वैसे बैठे रहे। धर्म-प्रेम और मनोबल से कठिन बातें भी सरल हो जाती हैं।

× × ×

तीसरी बार—कहते कुछ लज्जा आती है--मैं स्वार्थवश अनागारिक से भेंट करने गया। एक मित्र—जिनसे अनागारिक भी अच्छी तरह परिचित थे—विदेश में कुछ कष्ट में पड़ गये। अनागारिक को इसका कुछ पता न था। मेरी इच्छा थी कि उन्हें कहीं-न-कहीं से कुछ सहायता पहुँच जाय। लंका में अनेक ऐसे आदमी थे, जो चाहते, तो कुछ कर सकते थे; लेकिन करना चाहते, तब न? अनागारिक ही इसके अपवाद थे, इसलिए अनागारिक के पास जाने के सिवा कोई चारा न रहा। अनागारिक के पास मैं जाना न चाहता था, क्योंकि इस समय वे फिर बीमार थे। मैंने बहुत सोचा कि किसी दूसरे आदमी से काम चल जाय, तो अनागारिक को कष्ट न दूँ; लेकिन जब कोई और आदमी दिखाई न दिया, तो मैं अनागारिक के पास गया, और अपने तथा उनके मित्र की सब स्थिति उनके सामने रख दी। मैंने कहा—"एक तो आपकी सिफारिशी चिट्ठी चाहिये, और दूसरे कुछ आर्थिक सहायता।" जहाँ तक सिफारिशी चिट्ठी देने का प्रश्न था, उन्होंने चिट्ठी लिखवा, टाइप करवा, हस्ताक्षर कर अगले दिन भेज दी; लेकिन आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में उन्होंने कहा—"देखिये, आजकल कितने दिनों से इन डाक्टरों और दवाइयों पर सब-कुछ खर्च हुआ जा रहा है। मैं दोनों से तंग आ गया हूँ। सोचता हूँ, सब दवा-दारू खाना बन्द कर दूँ। ऐसा कर सकूँ, तो अवश्य कुछ बच सकता है, और जो कुछ बचे, वह सब

मैं भेजने को तैयार हूँ। इसके अतिरिक्त अभी इस समय तो सहायता करने की और कोई तरकीब नहीं सूझती।" वह स्कीम दूर की थी, और संदिग्ध। मुझे स्वभावतः निराशा हुई; लेकिन एक तो अनागारिक से मेरा परिचय अधिक न था दूसरे जो कुछ वे कर सकते थे, उन्होंने किया, इसलिए शिकायत की कोई जगह न रही। 'रोग में पड़ा हुआ आदमी अपने रोग की चिन्ता करे कि दूसरों को सहायता पहुँचाने की' कहकर मैंने अपने-आपको समझाया। और जो कुछ उन्होंने किया, वह ही क्या कम था? कोई यह न समझे कि अनागारिक का उक्त कथन केवल एक बहाना था, क्योंकि कुछ समय के बाद, जब वे स्वस्थ और समर्थ हुए, तो वे उसी व्यक्ति को कुछ आर्थिक सहायता भेजना न भूले; लेकिन उस समय आवश्यकता की वह घड़ी गुजर चुकी थी, इसलिये उन महाशय ने एक हाथ से वह रुपये लिये, और दूसरे हाथ से एक विद्यार्थी को यह कहकर दे दिये कि "लो रखो, तुम्हारे काम आयेंगे।"

× × ×

आखिरी बार—१९३१ के सितम्बर मास में—अनागारिक के दर्शन हुए। इकतालीस वर्ष के लगातार परिश्रम के बाद वे सारनाथ (बनारस) में मूलगन्धकुटीविहार स्थापित कर सके थे। जिस स्थान पर 'सूअर चरते थे', वहाँ आज न केवल एशिया के बल्कि योरप तक के अनेक लोग मूलगन्धकुटी के उद्घाटनोत्सव में सम्मिलित होने के लिये एकत्र हुए थे। उनके जीवन

चार बिस्कुट, दो सन्तरे, एक सेब, नेसल दूध के तीन प्याले, एक आने का दही और मूँग का उबाला हुआ पानी—यही मेरा दिन-भर का भोजन है। मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ—उतना ही, प्रसन्न जितने आभस्वर देवता।"

× × ×

अनागारिक के अन्तिम दिन, मालूम होता है, बड़ी प्रसन्नता पूर्वक कटे। संन्यास ग्रहण करते समय उन्होंने कहा—"मेरे दिल में एक ही आशा बाकी थी। वह यह कि मरने से पहिले इन दोनों हाथों में भिक्षापात्र ग्रहण कर लूँ। सो वह आज पूरी हो गई।" प्रव्रजित होने पर उनका नाम हुआ श्री देवमित्र धर्मपाल। सतत परिश्रम और दृढ़ अध्यवसाय से एक आदमी एक जीवन में क्या कुछ कर सकता है, यह अनागारिक ने करके दिखा दिया। उनके आरम्भ किये हुए अनेक ऐसे कार्य हैं, जिन्हें यदि किसी और भावना से नहीं, कम-से-कम कृतज्ञता के भाव से ही प्रेरित होकर हमें जारी रखना होगा। सिंहल-द्वीप में उनका स्थापित किया हुआ एक साप्ताहिक पत्र, एक अस्पताल, एक कालेज और कई स्कूल हैं। भारत में यों तो सभी के लिए, लेकिन विशेषरूप से 'नास्तिक और किसी जात-पाँत को न मानने वाले' बौद्ध यात्रियों के लिये, बुद्धगया और बुद्धगया स्टेशन की धर्मशालाएँ, कलकत्ते जैसे मँहगे और कालेजस्कायर जैसे साफ महल्ले में 'महाराजिक विहार', इस विहार के साथ एक अच्छा पुस्तकालय, फिर सारनाथ का

मूलगन्धकुटी-विहार—अनेक ऐसी संस्थाएँ अनागारिक के स्मारक हैं। १८९१ में उन्होंने 'महाबोधी' नामक अंगरेजी मासिक पत्र स्थापित किया था। ४१ वर्ष से वह नियमपूर्वक प्रकाशित होता आ रहा है। आशा है, वह अब भी बन्द न होगा। 'महाबोधी' का विशेष उद्देश्य भारत में बौद्धधर्म प्रचार करना है, इसलिए अंगरेजी महाबोधि यदि हिन्दी महाबोधी का रूपान्तर ग्रहण कर ले, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं। लण्डन में स्थापित किया हुआ 'दि ब्रिटिश बुद्धिस्ट' मासिक पत्र और 'बुद्धिस्ट मिशन' छै वर्ष से लगातार अपना कार्य कर रहे हैं। हम नहीं समझते कि अनागारिक के लगाये इस पौधे को उनके अंगरेज बौद्ध मित्र शीघ्र मरने देंगे।

अनागारिक एक आदमी थे—देवता न थे। देवता होना सहज है, आदमी होना कठिन। और देवताओं में क्या आदमियों के गुण-दोष नहीं होते? सो उनमें भी थे। लेकिन अप्रैल १९३३ की २९ तारीख को उनके दोष तो उनके साथ चिता में जलकर राख हो गये। और गुण? अग्नि ज्वाला के प्रकाश में ऐसे चमकने लगे, जैसे तपाया हुआ सोना।

॥ इति ॥

में प्रसन्नता का शायद यह सबसे बड़ा अवसर था। निर्बलता के कारण मंडप में पैदल न आ सकते थे। उन्हें एक पहियेदार कुरसी में बिठाकर लाया गया। एक वीर आत्मा की वह आत्म-कथा सुनने लायक़ थी। किस प्रकार ४१ वर्ष तक उन्होंने इस मूलगन्धकुटी-विहार की स्थापना के लिये परिश्रम किया? मार्ग में कौन-कौन सी बाधाएँ आईं? किस प्रकार उन बाधाओं को जीता? कैसे अन्त में सफलता हुई? भविष्य में वे किस प्रकार के अन्तर्जातीय बौद्ध विश्वविद्यालय की स्थापना के स्वप्न देखते थे?" उन्हें अधिकार था कि आनेवाली सन्तति को अपने जीवन और कार्य के विषय में कुछ बतावें। उन्होंने अपना सारा जीवन एक ही आदर्श की पूर्ति में लगा दिया। वे केवल यही चाहते थे कि किसी प्रकार पुनः भारत में बौद्धधर्म का प्रसार हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि वे अथक परिश्रम करने वाले थे। रोग की भयंकर अवस्था में भी वे अपने 'सिंहल-बौद्ध' नामक सिंहाली पत्र को प्रति सप्ताह एक लेख लिखना न भूलते थे। अपने एक पत्र में उन्होंने मुझे लिखा—"मैं शरीर से बिलकुल कमज़ोर हूँ। फिर भी रात को दो या तीन बजे उठकर मैत्री-भावना—प्राणीमात्र की प्रसन्नता की इच्छा—करता हूँ। अपनी माता की, अपनी, सारनाथ में रहने वाले श्रामणेर विद्यार्थियों की, देवप्रिय की, तुम्हारी, राहुल और दयानन्द की—इस प्रकार एक-एक करके सब की प्रसन्नता की कामना करता हूँ। फिर चाहता हूँ कि मुझ में दान, वीर्य आदि सब

पारमिताओं* की पूर्ति की सामर्थ्य हो, और मेरा अगला जन्म भारत में हो, ताकि मैं फिर एक बार ऋषिपत्तन (सारनाथ) में बैठकर भारत में बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए कार्य कर सकूँ।" अपनी एक दूसरी चिट्ठी में, जो मुझे उनके स्वर्गवास के समाचार के थोड़ी ही देर बाद मिली, उन्होंने लिखा था— "१८९१ में बौद्ध गया को पुनः बौद्ध हाथों में लाने के लिए महाबोधी सोसाइटी की स्थापना हुई थी। मैंने जिस समय पहली बार बौद्ध-गया की यात्रा की, तो निश्चय किया कि एक-न-एक दिन यहाँ बौद्ध भिक्षुओं के हाथों भगवान की पूजा-अर्चना कराऊँगा। सिंहाली, बर्मी और अराकानियों ने पहले तीन-चार वर्ष मेरी सहायता की। बाद में मुझे अकेले भिड़ना पड़ा। सन् १९०५ से स्वर्गीय मिसेज़ मेरी—फोस्टर ने सहायता करना आरम्भ किया। वे जीते-जी मुझे पुत्र-तुल्य प्रेम करती रहीं। यदि बौद्ध लोगों ने मेरी विशेष सहायता की होती, तो मैंने अपने जीवन में कुछ-न-कुछ कर लिया होता; लेकिम भेद और ईर्ष्या के आगे एक न चली! बौद्ध-गया को केन्द्र बनाकर एक 'सम्मिलित बौद्ध संघ' स्थापित किया जा सकता था, लेकिन वह न हो सका। जो कुछ मुझसे हो सकता था, मैंने किया। श्रीमती फोस्टरकी सहायता से कलकत्ते और सारनाथ विहारों का निर्माण और 'लण्डन बौद्ध मिशन' की स्थापना की। इस समय मैं ६८ वर्ष का हूँ। रोटी या भात कुछ नहीं खा सकता।

*सद्गुणों की पराकाष्टा।

छात्रहितकारी पुस्तकमाला
दारागंज, प्रयाग की
अनुपम पुस्तकें

१—**ईश्वरीय-बोध**—परमहंस स्वामी रामकृष्णजी के उपदेश भारत में ही नहीं, संसार भर में प्रसिद्ध हैं। उन्हीं के उपदेशों का यह संग्रह है। श्रीरामकृष्णजी ने ऐसी मनोरंजक और सरल, सब की समझ में आने लायक बातों में प्रत्येक मनुष्य को ज्ञान कराया है कि कुछ कहते नहीं बनता। प्रत्येक उपदेश पढ़ते समय ऐसा मालूम होता है मानो कोई कहानी पढ़ रहे हैं। परिवर्द्धित संस्करण का मूल्य सिर्फ ॥)

२—**सफलता की कुञ्जी**—अमेरिका, जापान आदि देशों में वेदान्त का डंका पीटने वाले तथा भारत-माता का मुख उज्ज्वल करने वाले स्वामी रामतीर्थ को सभी जानते हैं। यह पुस्तक उन्हीं स्वामी जी के Secret of Success नामक अपूर्व निबन्ध का अनुवाद है। मूल्य ।)

३—**मनुष्य जीवन की उपयोगिता**—मनुष्य जीवन किस प्रकार सुखमय बनाया जा सकता है? इसकी उत्तम रीति आप जानना चाहते हैं तो एक बार इसे पढ़ जाइये। कितने सरल उपायों से जीवन पूर्ण सुखमय हो जाता है, यह आपको इसी पुस्तक से मालूम होगा। यह मूल पुस्तक तिब्बत के प्राचीन पुस्तकालय में थी, जहाँ के एक चीनी ने इसका अनुवाद चीनी भाषा में किया। आज दिन योरप की प्रत्येक भाषा में इसके हज़ारों संस्करण हो चुके हैं। डेढ़ सौ पेज की पुस्तक का मूल्य ॥=)

४—**भारत के दशरत्न**—यह जीवनियों का संग्रह है। इसमें भीष्म पितामह, श्रीकृष्ण, पृथ्वीराज, महाराणा प्रतापसिंह, समर्थ गुरुरामदास श्रीशिवाजी, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के, जीवन-चरित्र बड़ी खूबी के साथ लिखे गये हैं। सचित्र का मूल्य ॥)

५—**ब्रह्मचर्य ही जीवन है**—इसको पढ़कर सच्चरित्र पुरुष तो सदैव के लिये वीर्यनाश से बचता ही है, किन्तु पापात्मा भी निःसंशय

पुण्यात्मा बन जाता है। व्यभिचारी भी ब्रह्मचारी बन जाता है। दुर्बल तथा दुरात्मा भी साधु हो जाता है। जो पुरुष अपने को औषधियों का दास बनाकर भी जीवन लाभ नहीं कर सका है, उसे इस पुस्तक में बताये सरल नियमों का पालन कर अनन्त जीवन प्राप्त करना चाहिये। कोई भी ऐसा गृहस्थ या भारतपुत्र न होना चाहिये जिसके पास ऐसी उपयोगी पुस्तक की एक प्रति न हो। दसवें संस्करण का मूल्य ।॥)

६—वीर राजपूत—अप्राप्य मू० १)

७—हम सौ वर्ष कैसे जीवें—भारतवर्ष में औषधालयों और औषधियों की कमी नहीं, फिर भी यहाँ के मनुष्यों की आयु अन्य देशों की अपेक्षा सबसे कम क्यों है? औषधियों का विशेष प्रचार न होते हुये भी हमारे पूर्वजों की आयु सैकड़ों वर्ष कैसे होती थी? एक मात्र कारण यही है कि हमारे खाने पीने, उठने बैठने के व्यवहारों में बर्तने योग्य कुछ ऐसे नियम हैं जिन्हें हम भूल गये हैं "हम सौ वर्ष कैसे जीवें?" को पढ़ कर उसके अनुसार चलने से मनुष्य सुखों का भोग करता हुआ १०० वर्ष तक जीवित रह सकता है। मूल्य १)

८—वैज्ञानिक कहानियाँ—महात्मा टाल्स्टाय लिखित वैज्ञानिक कहानियाँ, विज्ञान की शिक्षा देनेवाली तथा मनोरंजक पुस्तक मूल्य ।)

९—वीरों की सच्ची कहानियाँ—यदि आपको अपने प्राचीन भारत के गौरव का ध्यान है यदि आप वीर और बहादुर बनना चाहते हैं, तो इसे पढ़िये! इसमें अपने पुरुषाओं की सच्ची वीरता-पूर्ण यश गाथायें पढ़ कर आपका हृदय फड़क उठेगा, नसों में वीर रस प्रवाहित होने लगेगा, पुरुषाओं के गौरव का रक्त उबलने लगेगा। मूल्य केवल ।।=)

१०—आहुतियाँ—यह एक बिलकुल नये प्रकार की नयी पुस्तक है। देश और धर्म पर बलिदान होने वाले वीर किस प्रकार हँसते हँसते मृत्यु का आवाहन करते हैं? उनकी आत्मायें क्यों इतनी प्रबल हो जाती हैं? वे मर कर भी कैसे जीवन का पाठ पढ़ते हैं? इत्यादि दिल फड़काने वाली कहानियाँ पढ़नी हों तो "आहुतियाँ" आज ही मँगा लीजिये। हिन्दी

में ऐसा संग्रह कभी नहीं निकला था। एक एक कहानी वीर रस में सराबोर है। मूल्य केवल ।||)

११—जगमगाते हीरे—प्रत्येक आर्य सन्तान के पढ़ने लायक यह एक ही नयी पुस्तक है। इसमें राजा राममोहन राय से लेकर आज तक के भारत प्रसिद्ध महापुरुषों की संक्षिप्त जीवन दी गयी है। एक बार इस सचित्र पुस्तक को आप खुद पढ़िये और अपने स्त्री-बच्चों को पढ़ाइये। मूल्य केवल १)

१२—पढ़ो और हँसो—विषय जानने के लिये पुस्तक का नाम ही काफी है। एक एक लाइन पढ़िये और लोट-पोट होते जाइये। आप पुस्तक अलग अकेले में पढ़ेंगे, पर दूसरे लोग समझेंगे कि आज किससे यह कहकहा हो रहा है। पुस्तक की तारीफ यह है कि पूरी मनोरंजक होते हुए भी अश्लीलता का कहीं नाम नहीं। यदि शिक्षाप्रद मनोरंजक पुस्तक पढ़नी है तो इसे पढ़िये। मूल्य ||)

१३—मनुष्य शरीर की श्रेष्ठता—मनुष्य के शरीर के अंगों और उनके कार्य इस पुस्तक में बतलाये गये हैं। इसके पढ़ने से आपको पता चलेगा कि हम अपनी असावधानी, तथा अपनी अनियमित रहन सहन से शरीर के अंगों को किस प्रकार विकृत कर डालते हैं। मूल्य ।=)

१४—एकान्तवास—अप्राप्य मू० |||)

५१—पृथ्वी की अन्वेषण की कथायें—अप्राप्य १)

१६—फल उनके गुण तथा उपयोग—पुस्तक का विषय नाम ही से प्रकट है। अभी तक इस विषय पर हिन्दी में क्या भारत की किसी भषा में भी कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई। यह बात निर्विवाद है कि फलाहार सब से उत्तम और निर्दोष आहार है। महात्मा गांधी फल पर ही रहते हैं। भारतीय ऋषि फलाहार ही से हज़ारों वर्ष जीवित रहते थे, रोग उनके पास नहीं फटकता था। अस्तु आप अपने तन मन और आत्मा को नीरोग रखना चाहें तो यह पुस्तक अवश्य पढ़ें। मूल्य केवल १।)

१७—स्वास्थ्य और व्यायाम—यह अपने ढंग की हिन्दी में एक ही पुस्तक है। आज दिन व्यायाम के अभाव से नवयुवकों के स्वास्थ्य और

शरीर का किस प्रकार ह्रास हो रहा है, यह किसी से छिपा नहीं है। लेखक ने अपने निज के अनुभव तथा संसार-प्रसिद्ध पहलवान सैंडो, मूलर तथा प्रो० राममूर्ति के अनुभवों के आधार पर लिखा है। इसमें लड़कों और स्त्रियों के उपयुक्त भी व्यायाम बतलाये गये हैं। व्यायाम की विधि बताने के साथ ही साथ चित्र भी दिये गये हैं जिससे व्यायाम करने में सहूलियत हो जाती है। मूल्य अजिल्द का १॥) तथा सजिल्द का २)

१८—धर्मपथ—प्रस्तुत पुस्तक में महात्मा गांधी के ईश्वर, धर्म तथा नीति सम्बन्धी लेखों का संग्रह किया गया है जिन्हें उन्होंने समय समय पर लिखे हैं। यह सभी जानते हैं कि महात्मा गाँधी केवल राजनीतिक नेता ही नहीं, वरन् वर्तमान युग के धार्मिक सुधारक तथा युगप्रवर्तक हैं। ऐसे महात्मा के धार्मिक विचारों से परिचित होना प्रत्येक धर्मावलम्बी का परम कर्त्तव्य है। मू० ॥।)

१९—स्वास्थ्य और जलचिकित्सा—जलचिकित्सा के लाभों को सब लोगों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। इस विषय पर जनसाधारण के लिये कोई उपयोगी पुस्तक न थी। जो दो एक पुस्तकें हैं भी उनका मूल्य इतना अधिक है और वे इतनी क्लिष्ट भाषा में लिखी गई हैं कि सर्वसाधारण का उनसे लाभ उठाना एक तरह से कठिन ही है। परन्तु प्रस्तुत पुस्तक सब के लिये बहुत उपयोगी है। मू० १।।।

२०—बौद्ध कहानियाँ—महात्मा बुद्ध का जीवन और उपदेश कितने महत्वपूर्ण, पवित्र और चरित्र-निर्माण में सहायक हैं, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। इस पुस्तक में उन्हीं महात्मा के जीवन के उपदेश कहानियों के रूप में दिये गये गए हैं। उनकी घटनायें सच्ची हैं। प्रत्येक कहानी रोचक और सुन्दर ढंग से लिखी गई है। पुस्तक विद्यार्थियों तथा नवयुवकों को विशेष उपयोगी है। सचित्र पुस्तक का मू० १) है।

२१—भाग्य-निर्माण—आज बहुत से नवयुवक सब तरह से समर्थ और योग्य होने पर भी अकर्मण्य हो भाग्य के भरोसे बैठे रहते हैं। कोई उद्यम या परिश्रम का कार्य नहीं करते। फल-स्वरूप वे अपने लिये तथा घरवालों के लिये बोझ हो जाते हैं। यह पुस्तक विशेषकर ऐसे

नवयुवकों को लक्ष्य करके लिखी गई है। इस पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ के पढ़ने से नवयुवकों में उत्साह, स्फूर्ति तथा नवजीवन प्राप्त होगा। इस पुस्तक के लेखक हैं हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान तथा जयपुर हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज ठाकुर कल्याणसिंह जी बी० ए०। सुन्दर जिल्द से युक्त पुस्तक का मूल्य १॥) है।

२२—वेदान्त धर्म—इसमें देश-विदेश में वेदान्त का झंडा फहराने वाले स्वामी विवेकानन्द के भारतवर्ष में वेदान्त पर दिये हुये भाषणों का संग्रह है। ये वे ही व्याख्यान हैं, जिनके प्रत्येक शब्द में जादू का सा असर है। पढ़ते समय ऐसा जान पड़ता है, मानो उनका प्रत्यक्ष भाषण सुन रहे हों। स्वामी जी के भाषण कितने प्रभावशाली, जोशीले और सामयिक हैं, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। आध्यात्मिक विषयों की रुचि रखने वालों को इसे अवश्य पढ़ना चाहिये। मू० १।)

२३—पौराणिक महापुरुष—आजकल हमारे बच्चे स्कूलों में विदेशी महापुरुष के ही चरित पढ़ते हैं। परिणाम यह होता है कि उन पर विदेशी आदर्शों की छाप पड़ जाती है, वह अपने भारतीय संस्कृति और धर्म से दूर होजाते हैं। इस पुस्तक में हरिश्चन्द्र, शिवि, दधीच आदि महापुरुषों की जीवन कथायें संक्षेप में दी गई हैं। जिन्होंने सत्य, दया धर्म के लिये अपनी आहुति दे दी थी। मू० ॥।)

२४—मेरी तिब्बत यात्रा—इसके लेखक भारतीय पुरातत्व के अन्वेषक त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन हैं। लेखक ने अभी हाल ही में तिब्बत की यात्रा की थी। इस पुस्तक में तिब्बत के अनोखे रीति रिवाज, वहाँ की रहन-सहन तथा धार्मिक सामाजिक रूढ़ियों पर काफ़ी प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तक से नेपाल के विषय में भी काफ़ी बातें मालूम होती हैं। पुस्तक पढ़ने में उपन्यास का सा मज़ा आता है। पुस्तक पत्रों के रूप में है। मू० १।)

२५—दूध ही अमृत है—दूध की उपयोगिता को कौन प्राणी स्वीकार न करेगा। जब बच्चा जन्म लेता है, दूध ही द्वारा उसकी जीवन रक्षा होती है। ऐसे जीवन रक्षक दूध के सम्बन्ध में अंगरेजी आदि विदेशी

भाषाओं में सैकड़ों पुस्तकें हैं, परन्तु हिन्दी में कोई ऐसी पुस्तक न थी, जिसमें दूध के पोषक तत्वों, इसके पीने से लाभ तथा इससे क्या २ वस्तुयें तैयार हो सकती हैं, आदि बातों का वर्णन हो। इसी कमी को दूर करने के लिये इस पुस्तक की रचना की गई है। अगर आप दूध के वास्तविक गुणों को जानना चाहते हों, तो इसे अवश्य पढ़ें। मू० १॥) २)

२६—अहिंसाव्रत—जे० महात्मा गांधी हैं जो अहिंसा को परम धर्म मानते हैं। उनका सारा सिद्धांत इसी पर अवलम्बित है। अगर आप अहिंसा के वास्तविक मर्म को जानकर अपना जीवन पवित्र और शुद्ध बनाना चाहते हैं तो इस पुस्तक को पढ़ें। इस पुस्तक में उन सब लेखों का संग्रह किया गया है, जिन्हें महात्मा जी ने समय २ पर लिख कर पाठकों की शंकाओं, उनकी उलझनों को दूर किया है। मू० ॥)

२७—पुण्यस्मृतियाँ—इसके लेखक भी महात्मा गांधी हैं। इस ग्रन्थ में महात्मा जी ने महात्मा टाल्सटाय, लोकमान्य तिलक, महामना गोखले, सुकरात, देशबन्धुदास, लाला लाजपत राय आदि देशी तथा विदेशी महापुरुषों के प्रति श्रद्धांजालियाँ अर्पित की हैं। इस ग्रन्थरत्न के सम्बन्ध में अधिक लिखना व्यर्थ है, जब स्वयं महात्मा जी की पावन लेखनी से महापुरुषों की पावनगाथा लिखी गई है। आप भी इसे पढ़ कर अपनी आत्मा को उच्च और पवित्र बनाइये। मू० ॥।)

साहित्य सरोजमाला की पुस्तकें:—

१—पतिता की साधना—इस उपन्यास का कथानक बिल्कुल नये ढंग का है जो अभी तक हिन्दी के किसी उपन्यास में नहीं मिल सकता। इसकी अत्यन्त रोचकता और अद्भुत रचना-प्रणाली देकर पाठकों का कुतूहल उत्तरोत्तर इतना बढ़ जाता है कि इसे समाप्त किये बिना किसी काम में जी लगना तो दूर, खाना-पीना तक दुर्लभ हो जाता है। मू० २)

२—अवध की नवाबी—यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें लखनऊ के घोर विलासिता में मग्न नवाब की लास्यलीला, उनका प्रजा-पीड़न का रोमांचकारी वर्णन है। उस समय कोई सुव्यवस्थित शासन न

होने से देश भर में, ठग डाकुओं का किस प्रकार दौर-दौरा था, नवाब के कर्मचारी किस प्रकार बहू-बेटियों की इज्जत बर्बाद करते थे, प्रजा का सर्वस्व अपहरण कर उन्हें दर-दर का भिखारी बना देते थे, इसे पढ़कर पत्थर का हृदय भी पिघल जायगा। आपको स्वर्ग और नर्क का दृश्य साथ ही देखना हो तो इस उपन्यास को अवश्य ही पढ़ें। सुन्दर नयनाभिराम चित्र से युक्त पुस्तक का मू० २)

३—मफलीरानी—मनुष्य में जब कभी जीवन-रस की प्यास भड़कती है, तब वह कैसा अन्धा हो जाता है, कामना की अग्नि में जली-भुनी नारी भी अवसर आने पर अपना कलेजा किस तरह ठंडा करती हैं, जीवन के कोमल मधुर मिलन कितने प्राण-प्रद होते हैं, आदर्श नारी के हृदय में कितना प्यार, कैसा दर्प और कैसी दृढ़ न्याय-बुद्धि होती है और अन्त तक वह अपने आराध्य के साथ-साथ अपने जीवन का कैसे उपसर्ग करती है ये सब बातें इस उपन्यास में ऐसी जीवित भाषा, सुन्दर दृश्यों तथा अद्भुत घटनाओं के झकोरों में इतनी मनोहर शैली से बताई गयी हैं कि पाठक को पढ़ते-पढ़ते चकित कर डालती हैं। पृष्ठ संख्या लगभग तीन सौ, तिरंगा कवर, मू० २)

स्त्रियोपयोगी दो अनुपम पुस्तकें:—

१—स्त्री और सौन्दर्य—यौवन और सौन्दर्य स्त्रियों के लिए परमात्मा की अनुपम देन है। परन्तु स्त्रियाँ अपनी असावधानी तथा अज्ञानता से २०-२२ वर्ष तक पहुँचते पहुँचते इससे हाथ धो बैठती हैं और जीवन भर शारीरिक और मानसिक कष्ट भोगती रहती हैं। प्रस्तुत पुस्तक सभी स्त्रियों के लिये बड़े काम की है चाहे वह युवावस्था में प्रवेश कर रही हों अथवा अपनी असावधानी से जिन्होंने यौवन को नष्ट कर डाला हो। इस पुस्तक में सौन्दर्य और स्वास्थ्य रक्षा के लिये ऐसे सुगम साधन तथा सरल व्यायाम बतलाये गये हैं जिनके नियमित रूप से बर्तने से ४० वर्ष की अवस्था तक भी स्त्रियाँ सुन्दरी और स्वस्थ बनी रह सकती हैं। मू० ३)

२—पाकविज्ञान—इसकी लेखिका ज्योतिर्मयी ठाकुर हैं। लेखिका

ने इसमें स्त्रियों के लिये विविध प्रकार के व्यंजनों की सरल और सुबोध विधि लिखी है। अगर आप अपनी बहू-बेटी तथा बहन को सद्गृहिणी बनाना चाहते हैं तो उनको इसकी एक प्रति खरीद कर अवश्य दीजिये। मू० ३)

साहित्य सुमनमाला की पुस्तकें—

१—मदिरा—हिन्दी के उदीयमान लेखक पं० तेजनारायण काक 'क्रांति' की अद्भुत लेखनी द्वारा लिखा गया यह सुन्दर गद्य-काव्य है। प्रत्येक लाइन पढ़ते समय पद्य का सा आनन्द मिलता है। यदि आप सरस साहित्य के प्रेमी हैं, तो इसे अवश्य पढ़िये। मू० १) है।

२—कवितावली रामायण—कवि-सम्राट गोस्वामी तुलसीदास की इस अमर रचना से कौन परिचित नहीं है। परीक्षार्थियों के लाभार्थ इसके कठिन शब्दों के अर्थ, पद्यों का सरलार्थ तथा पद्यों के मुख्य अलंकार भी बतलाये गये हैं विस्तृत भूमिका भी दी गई है जिसमें गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवन पर पूरा प्रकाश डालते हुए कवितावली की निष्पक्ष आलोचना की गई है। भूमिका लेखक हैं प्रसिद्ध विद्वान पं० उदयनारायण त्रिपाठी मू० १॥)

३—भग्नावशेष—इसके लेखक प्रसिद्ध नाटककार 'कुमारहृदय' हैं जिनके नाटकों को हिन्दी जगत अच्छी तरह अपना चुका है। यह नाटक आपके पूर्व लिखित नाटकों से कहीं सुन्दर है। इसमें वीर रस और करुण रस का अच्छा परिपाक हुआ है। इसके पढ़ने से भारत के प्राचीन गौरव की झलक आँखों के सामने स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। मूल्य ॥=)

४—गुप्तजी की काव्य-धारा—ले० श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' बी० ए०—आधुनिक हिन्दी-साहित्य में बाबू मैथिलीशरण गुप्त का एक विशेष स्थान है। लगभग तीस वर्षों तक विविध काव्य पुस्तकों की रचना कर के गुप्तजी ने हिन्दी-संसार को वह अमूल्य निधि प्रदान की है, जिस पर समस्त हिन्दी-भाषियों को उचित गर्व है। 'गुप्तजी की काव्य-धारा' नामक आलोचनात्मक ग्रंथ में गुप्तजी के प्रायः सम्पूर्ण साहित्यिक कृतियों का एक सुन्दर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। मू० २)

मैनेजर—छात्रहितकारी पुस्तकमाला, दारागंज, प्रयाग।